संस्करण
द्वितीय, 1987

प्रकाशक
इतिहास शोध संस्थान
भूलभुलैयां रोड, महरौली, नई दिल्ली-110030

मुद्रक: कोणार्क प्रेस लक्ष्मी नगर दिल्ली-92

मूल्य रुपये 40:00

हमको भी क्या-क्या मजे की दास्तानें याद थीं,
लेकिन अब तमहीदे-जिक्रे-दर्दो-मातम[1] हो गईं

नाजरीन[2], यह किस्सा शुरू यों होता है कि दस-बारह साल पहले दिल्ली की तरफ के रहने वाले मेरे एक दोस्त मुंशी अहमद हुसैन साहब सैर के लिए लखनऊ तशरीफ़ लाये थे। उन्होंने चौक मे सय्यद हुसैन के फाटक के पास एक कमरा किराये पर लिया था। यहा अक्सर दोस्त शाम होते ही आ बैठते थे। बड़ी मजे की संगत होती थी। मुंशी साहब को शेर-शायरी का ज्ञान बढ़-चढ़कर था। स्वयं भी कभी-कभी कुछ कह लेते थे, और अच्छा कहते थे। लेकिन ज्यादातर सुनने का शौक़ था। इसलिए अक्सर शेरो-सखुन का चर्चा रहता था। इसी कमरे के बराबर एक और कमरा था। उसमें एक वेश्या रहती थी। उसका रहन-सहन का ढग और वेश्याओं से बिल्कुल भिन्न था। न उसे किसी ने कमरे पर सरे-राह बैठे देखा, न वहां किसी का आना-जाना था। दरवाजों पर दिन-रात पर्दे पड़े रहते थे। चौक की तरफ़ बाहर का रास्ता बिल्कुल बंद रहता था। गली की ओर एक और दरवाजा था, उसी से नौकर-चाकर आते-जाते थे। अगर कभी-कभी रात को गाने की आवाज न आया करती तो यह भी मालूम न होता कि इस कमरे में कोई रहता भी है या नही। जिस कमरे मे हम लोग बैठते थे उसमे एक छोटी-सी खिड़की लगी थी मगर उसमे कपड़ा पड़ा हुआ था।

एक दिन रोज की तरह दोस्तों का जलसा था। कोई गजल पढ रहा था, दोस्त दाद दे रहे थे। इतने में मैंने एक शेर पढा। उस खिड़की की ओर से 'वाह!' की आवाज आई। मैं चुप हो गया। अन्य दोस्तों का भी ध्यान उधर गया। मुंशी अहमद हुसैन ने पुकार कर कहा, "परोक्ष प्रशंसा ठीक नहीं, अगर शेरो-शायरी का शौक है तो जलसे में तशरीफ़ लाइए।" इसका कोई जवाब न मिला। मैं फिर गजल पढने लगा, बात आई-गई हो गई। थोड़ी देर के बाद एक महरी आई। उसने सबको सलाम किया। फिर यह कहा, "मिर्जा रुसवा कौन साहब हैं?" दोस्तों ने मुझे बताया। महरी बोली, "बीबी ने जरा आपको बुलाया है।" मैंने कहा, "कौन बीबी?" महरी ने कहा, "बीबी ने कह दिया है कि नाम न बताना, आगे आपका जो हुक्म!"

---

१. दुःख-दर्द की कहानी की भूमिका, २. पाठकगण

मुझे महरी के साथ जाने में झिझक हुई। दोस्त मजाक करने लगे, "हां साहब, क्यों नही ! पुरानी जान-पहचान है, तभी तो इस तरह बुला भेजा है !"

मैं दिल मे सोच रहा था कि कौन साहब ऐसे बेतकल्लुफ हैं ! इतने मे महरी ने कहा, "हुज़ूर, बीबी आपको अच्छी तरह जानती हैं, जभी तो बुला भेजा है !" आख़िर जाना ही पड़ा ! जाकर जो देखा तो मालूम हुआ, अल्ला ! उमराव जान तशरीफ रखती हैं !

उमराव : (देखते ही) वल्लाह ! मिर्जा साहब आप तो हमें भूल ही गये !

मैं : यह किसे मालूम था कि आप कोह-काफ़ में तशरीफ़ रखती हैं ।

उमराव : यों तो मैं अक्सर आपकी आवाज सुनाकरती थी, मगर बुलाने की हिम्मत न हुई । आज आपकी गजल ने बेचैन कर दिया ! एकदम मुंह से 'वाह' निकल गया ! उधर किसी साहब ने कहा, 'यहा आइए ।' मैं अपनी जगह आप ही शर्मिन्दा हुई । जी में आई, चुपहो रहूं, मगर दिल न माना । आख़िर पहले गुणों के आधार पर आपको कष्ट दिया । माफ़ कीजिएगा । हां, वह शेर पढ़ दीजिए ।

मैं : माफ तो कुछ भी न होगा और न मैं शेर सुनाऊंगा । अगर आपको शौक है तो वही तशरीफ़ ले चलिए ।

उमराव : मुझे चलने में कोई उज्र नहीं लेकिन घरवाले या किसी और साहब को मेरा जाना बुरा न लगे !

मैं : आपके होश ठिकाने हैं ? भला ऐसी जगह मैं आपको चलने के लिए क्यों कहता ! बेतकल्लुफ संगत है, आपके जाने से और मजा होगा !

उमराव : यह तो सच है, मगर कही ज्यादा बेतकल्लुफी न हो !

मैं : जी नही, वहां सिवा मेरे कोई आपसे बेतकल्लुफ नहीं हो सकता ।

उमराव : अच्छा तो कल आऊंगी ।

मैं : अभी क्यों नहीं चलतीं ?

उमराव : ऐ है, देखिए तो किस हाल में बैठी हूं !

मैं : वहां कोई मुजरा तो है नहीं । अनौपचारिक संगत है, चली चलिए ।

उमराव : "ऊई मिर्जा, आपकी बातें लाजवाब होती हैं । अच्छा चलिए, मैं आती हूं ।" मैं उठकर चला आया । थोड़ी देर बाद उमराव जान साहबा कंघी-चोटी करके, कपड़े बदलकर आईं ।

मैंने दोस्तों से कुछ शब्दों में उनकी शेरो-शायरी तथा संगीत-कला की योग्यता

और कमाल की प्रशंसा कर दी थी। लोग नरमुक हो गए थे। जब वह वापस आई तो यह ठहरी कि सब अपना-अपना कलाम पढ़ें और वह भी पढ़े। गरज कि बड़े मजे का जलसा हुआ। उस दिन से उमराव जान अकसर शाम को चली आती थी। घंटे-दो घंटे तक जमाव रहता था। कभी शेरो-शायरी हुई, कभी उन्होंने कुछ गाया, दोस्त आनन्दित हुए। ऐसेही एक जलसेका वर्णन यहां कर देते हैं :—

(इस मुशायरे में उमराव जान ने जो शेर व गजल पढ़ी, वह यह है)

किसको सुनायें हाले-दिले-ज़ार ऐ अदा, आवारगी में हमने ज़माने की सैर की
काबे में जाके भूल गया राह दैर की, ईमान बच गया मेरे मौला ने ख़ैर की।

शबे फुर्क़त बसर नहीं होती!

शोरे-फ़रियाद ता फ़लक पहुंचा, मगर उसको ख़बर नहीं होती।
तेरे कूचे के बेनवाओं की, हविसे-मालो-ज़र नहीं होती।
जान देना किसी पे लाज़िम था, ज़िन्दगी यूं बसर नहीं होती।
है यक़ीं वो न आयेंगे फिर भी, कब निगाहे सूए दर नहीं होती।
अब किस उम्मीदपर नज़र मेरी, गिरिया मुझे-असर नहीं होती।
हम असीराने-इश्क़ को सय्याद, हविसे बालो-पर नहीं होती।
ग़लत अंदाज़ ही सही, यह नज़र, क्यों मेरे हाल पर नहीं होती।
ऐ अदा, हम कभी न मानेंगे, दिल को दिल की ख़बर नहीं होती।

(मिर्ज़ा रुसवा ने यह ग़ज़ल सुनाई)

न पूछो हमसे क्योंकर ज़िन्दगी के दिन गुज़रते हैं,
किसी बेदर्द की फ़ुर्क़त में जीते हैं न मरते हैं।
कोई उनसे कहे दिल लेके भी यूं ही गुज़र जाना,
अदू के सामने जो गालियां देकर गुज़रते हैं।
अदा से नाज़ को 'रुसवा' है दावा पारसाई का,
कोई पूछे तो फिर क्यों देखकर [illegible] भरते हैं।

(इसके बाद और कई शाइरों ने अपना-अपना कलाम पढ़ा)

मुशायरा ख़त्म होने के बाद [illegible], [illegible] कुल्फ़ियां दोस्तों ने खाईं। [illegible] दस्तरख़्वान बिछा। मुंशी साहब ने [illegible]

मुंशी साहब : (उमराव जान से) [illegible]

आपने पहले पढ़ा था।

उमराव : किसको सुनायें हाले-दिले-ज़ार ऐ अदा
आवारगी में हमने ज़माने की सैर की।

मुंशी साहब : "इसमें शक नहीं कि आपके हालात बहुत ही रोचक होंगे। जबसे आपने यह मतला पढ़ा है, मुझे यही ख्याल है। अगर आप अपनी बीती बयान करें तो लुत्फ़ से खाली न होगा।" मैंने भी मुंशी साहब के कथन का समर्थन किया। मगर उमराव जान पहलू बचाती रही। हमारे मुंशी साहब को बचपन से ही किस्से-कहानियों का शौक था। अलिफ लैला व अमीर हमज़ा की दास्तान के अलावा बोस्ताने-ख्याल के कुल भाग नजर से गुजरे हुए थे। कोई नावल ऐसा न था जो आपने न देखा हो। मगर लखनऊ में चंद रोज़ रहने के बाद जब असल बोलचाल की खूबी खुली तो अक्सर उपन्यासकारों के बेतुके किस्से, कृत्रिम भाषा तथा विस्मयकारी और बेहूदा जोश दिलाने वाली तकरीरें आपके दिल से उतर गई थीं। लखनऊ के सहृदयों की भाषा बहुत पसंद आई। उमराव जान के उस मतला ने आपके दिल में वह ख्याल पैदा किया जिसका संकेत ऊपर किया गया है। सारांश यह कि मुंशी साहब के शौक और मेरे उकसाने ने उमराव जान को मजबूर किया और वह अपनी कहानी कहने पर मजबूर हो गई। इसमें संदेह नहीं कि उमराव जान की भाषा बहुत परिष्कृत थी, और क्यों न हो, अव्वल तो पढ़ी-लिखी, दूसरे उच्च कोटि की वेश्याओं में परवरिश पाई, शाहज़ादों और नवाबज़ादों की सोहबत उठाई! शाही महलों तक रसाई! जो कुछ उन्होंने देखा, अन्य लोगों ने कानों से न सुना होगा।

अपनी आपबीती वह जितनी कहती जाती थी, मैं उनसे छिपाकर लिखता जाता था। समाप्त होने पर मैंने मसविदा दिखाया। इस पर उमराव जान बहुत बिगड़ीं मगर अब क्या होता था! आखिर कुछ समझ-बूझकर चुप हो रहीं। स्वयं पढ़ा और जहां कुछ रह गया था, उसे जगह-जगह से ठीक किया।

मैं उमराव जान को उस समय से जानता हूं जब उनकी नवाब साहब से मुलाकात थी। उन्हीं दिनों मेरा उठना-बैठना भी अक्सर वहां होता था। इस आपबीती में जो कुछ वर्णन हुआ है उसके शब्दशः सही होने में कोई संदेह नहीं है। मगर यह मेरी निजी राय है, पाठकों को अख्तियार है जो चाहें अनुमान लगायें।

—मिर्ज़ा रुसवा

१

लुत्फ है कौन-सी कहानी में
आप-बीती कहूँ या जग-बीती।

सुनिये मिर्जा साहब ! आप मुझ से क्या छेड़-छेड कर पूछते हैं ! मुझ बद-नसीब की कहानी मे ऐसा क्या मजा है जिसके लिए आप इतने उत्सुक हैं ? एक दुखी, निराश, बेघर-बार की कुल-कलंकिनी और दोनो लोको से गई-गुजरी के हाल सुनकर आप खुश होगे—ऐसी मुझे हरगिज उम्मीद नही है। खैर, सुनिए और अच्छी तरह सुनिये !

बाप-दादा का नाम लेकर अपनी बडाई जताने से क्या फायदा ! और सच तो यह है कि मुझे याद भी नही। हा, इतना जानती हू कि फैजाबाद में शहर के किनारे किसी मुहल्ले में मेरा घर था। मेरा मकान पक्का था—पास थे कुछ कच्चे मकान, कुछ झोंपड़े, कुछ खपरैलें। रहने वाले भी कुछ ऐसे ही लोग थे—कुछ भिशती, कुछ नाई-धोबी, कहार। मेरे मकान के अतिरिक्त उस मुहल्ले में एक ऊंचा घर और भी था। उस मकान के मालिक का नाम दिलावर खां था। मेरे अब्बा बहूबेगम साहबा के मकबरे पर नौकर थे। मालूम नही क्या काम था, क्या तनख्वाह थी, इतना याद है कि लोग उनको जमादार कहते थे।

दिन-भर मैं अपने भाई को खेलाया करती थी और वह भी मुझ से इतना हिला हुआ था कि दम-भर के लिये न छोड़ता था। अब्बा जब शाम को नौकरी पर से आते थे, उस समय की हम भाई-बहनों की खुशी को कुछ न पूछिये ! मैं कमर से लिपट गई, भाई अब्बा-अब्बा करके दौड़ा—दामन से चिपट गया ! अब्बा की बाछें खुशी से खिल जाती थी। मुझे चुमकारते, पीठ पर हाथ फेरते। भैया को गोद में उठा लेते—प्यार करने लगते ! मुझे खूब याद है, अब्बा कभी खाली हाथ घर नहीं आते थे। कभी दो कतारे (गन्ने) हाथ में हैं, कभी बताशों

या तिल के लड्डुओं का दोना हाथ में है। अब इसके हिस्से बनाये जा रहे हैं–उस समय भाई-बहनोंमें किस मजे की लडाइया होती थी! वह कतारा छीने लिये जाता है, मैं मिठाई का दोना हथिया लेती हूं। अम्मां सामने छपरैल में बैठी खाना पका रही हैं। अब्बा इधर आके बैठते नहीं कि मेरे तकाजे शुरू हो जायेंगे—अब्बा! गुड़ियां नहीं लाये? देखो, मेरे पांव की जूती कैसी टूट गई है, तुम को तो ख्याल ही नही रहता! लो अभी तक मेरा हार सुनार के यहां से बन कर नहीं आया। छोटी खाला (मौसी) के लड़के की दूध-बढाई है, भई, मैं आऊंगी क्या पहन कर! चाहे कुछ हो, ईद के दिन तो मैं नया जोड़ा पहनूंगी, हां, मैं तो नया जोड़ा पहनूंगी।" जब अम्मां खाना पका चुकतीं, मुझे आवाज देतीं। मैं जाकर रोटी की टोकरी और सालन की पतीली उठा लाती। चादर बिछी। अम्मां ने खाना निकाला। सब ने सिर जोड़ के खाया। अपने खुदा का शुक्र किया। अब्बा ने रात की नमाज पढी। सो रहे। सुबह तड़के अब्बा उठे, नमाज पढ़ी। उसी समय मैं खड़ाक से उठ बैठी, फिर फरमाइशें शुरू हुईं: "मेरे अब्बा! आज न भूलना, गुड़ियां जरूर लेते आना। अब्बा! शाम को बहुत-से अमरूद और नारंगियां लाना······"

सुबह की नमाज पढ़के अब्बा वजीफा पढ़ते हुए कोठे पर चढ़ जाते थे। कबूतरों को खोल के दाना देते थे, एक-दो उड़ानें भराते थे! इतने में अम्मां झाड़ू आदि देकर खाना तैयार कर लेती थी, क्योंकि अब्बा दिन चढने से पहले ही नौकरी पर चले जाते थे। अम्मां सीना-परोना लेके बैठ जाती थी। मैं भैया को लेकर कहीं मुहल्ले में निकल गई या दरवाजे पर इमली का पेड़ था, वहां चली गई। हम-जोली लड़के-लड़कियां इकट्ठे हुए, भैया को बैठा दिया, खुद खेल में लग गई। हाय! क्या दिन थे! किसी बात की फिक्र ही न थी। अच्छे-से-अच्छा खाती थी, अच्छे-से-अच्छा पहनती थी, क्योंकि साथी लड़के-लड़कियों में कोई अपने से बढ़कर नजर न आता था। दिल खुला हुआ न था, निगाहें फटी हुई न थी। जहां मैं रहती थी, वहां कोई मकान मेरे मकान से ऊंचा न था और सब एक-एक कोठरा याखपरैल मेंरहते थे। मेरे मकान में आमने-सामने दो आंगन थे। मुख्य आंगन के सामने खपरैल पडी हुई दो कोठरियां थी। एक रसोई-घर था, दूसरी तरफ कोठे की सीढ़ियां थी। कोठे पर एक खपरैल, दो कोठरियां थीं। खाने-पकाने के बरतन जरूरत से ज्यादा थे। दो-चार दरियां और चांदनियां भी थी। ऐसी चीजें मुहल्ले

के लोग हमारे घर से मंगाते थे। हमारे घर में भिश्ती पानी भरता था, मुहल्ले की औरतें खुद ही कुएं से पानी भरकर लाती थीं। हमारे अब्बा जब घर से वरदी पहन कर निकलते थे तो लोग उन्हें झुककर सलाम करते थे। मेरी अम्मा डोली में बैठकर बाहर जाती थीं, जबकि पड़ोसिनें पैदल मारी-मारी फिरती थीं।

शक्ल-सूरत में भी मैं अपनी हमजोलियों से अच्छी थी। यद्यपि विशेष सुन्दरियों में मेरी गिनती न थी. फिर भी ऐसी भी न थी जैसी अब हूं। खिलती चम्पई रंगत थी, नैन-नक्श भी कुछ ऐसे बुरे न थे, माथा कुछ ऊंचा था, आखें बड़ी-बड़ी थीं, बचपने के फूले-फूले गाल थे, नाक हालांकि लम्बी नोकदार न थी, मगर चपटी भी न थी। डील-डौल भी आयु के अनुरूप अच्छा था—अब वैसी नहीं रही। कोमलांगियों में न मेरी तब गिनती थी, न अब है। इस बदन पर टांगों में लाल गुलबदन का पाजामा—छोटे-छोटे पायचों का। टूल का नेफा, नैनसुख की कुर्ती, तनजेब की ओढ़नी, हाथों में चांदी की तीन-तीन चूड़ियां, गले में हार, नाक में सोने की नथनी! अन्य सब लड़कियों की नथनियां चांदी की थीं। कान अभी ताजे-ताजे छिदे थे—उनमें केवल नीले डोरे पड़े थे। सोने की बालियां बनने को गई थीं।

मेरी शादी मेरी बुआ के लड़के के साथ ठहरी थी। मंगनी नौ साल की आयु में हो गई थी। अब उधर से शादी का तकाजा था। मेरी बुआ नवाबगंज में ब्याही हुई थीं। हमारे फूफा जमींदार थे। बुआ का घर हमारे घर से ज्यादा भरा-पूरा था। सगाई होने से पहले मैं कई बार अपनी मां के साथ वहां गई थी। वहां का रंग-ढंग ही और था। मकान तो कच्चा था, पर बहुत बड़ा खुला था। दरवाजे पर छप्पर पड़ा था। गाय, बैल, भैंसें बंधती थीं। घी-दूध, अनाज बहुत था। भुट्टों की फसल में टोकरों भुट्टे चले आते थे, गन्नों और ऊख के ढेर के ढेर लगे रहते थे—कोई कहां तक खाये।

मैंने अपने मंगेतर दुल्हा को भी देखा था, बल्कि साथ खेली थी। अब्बा पूरा दहेज का सामान जुटा चुके थे, कुछ रुपयों की और जरूरत थी। रजब के (सातवें) महीने में शादी होनी तय थी। रात को अब्बा और अम्मा में जब मेरी शादी की बातें होती थीं तो मैं चुपचाप पड़ी सुना करती थी, और दिल ही दिल में खुश होती थी: वाह! मेरे दुल्हा की सूरत करीमन (मेरी हमउमर एक लड़की) के दुल्हा से अच्छी है! वह तो काला-काला है, मेरा दुल्हा

जो नये बने हैं, उन्हें उजला करवा दो। घर-भर के बरतनों में से दो-चार रख लिये, शेष निकालकर अलग कर दिये कि इन पर कलई करा दो! अब्बा ने तो कहा भी कि आगे का भी ख्याल करो, पर मां ने कहा—'ओह जो होगा! तुम्हारी बहन जमींदार की बीबी है, यह भी तो जानें कि भाई ने लड़की को कुछ दिया! लाख तुम्हारी बहन हैं, सुसराल का नाम बुरा होता है, मेरी लड़की नगी-बूची जायेगी तो लोग ताने देंगे।'

मिर्जा रुसवा साहब! मैंने अपने मां-बाप के घर और बचपन की हालत का पूरा नक्शा आपके सामने खींच दिया है। अब आप समझ सकते हैं कि अगर मैं उस हालत में रहती तो खुश रहती कि नहीं! आप खुद अनुमान लगा सकते हैं, मेरी समझ में तो यह आता है कि मैं उस हालत में अच्छी रहती।

इब्तदा[1] आवारगी की जोशे-वहशत का सबब
हम तो समझे हैं मगर नासेह को समझाएंगे क्या?

मैंने अक्सर लोगों को कहते सुना है कि वेश्याओं की बात ही क्या है—जो कुछ न करें, कम है, क्योंकि वे ऐसे घर और ऐसे वातावरण में पलती हैं जहां सिवा बदकारी के और किसी चीज का ख्याल नहीं, मां-बहन जिसे देखो उसी हालत में है, मगर ये मां-बाप की बेटियां जो अपने घरों से निकल कर खराब हो जाती हैं, उनको वहां मारे जहां पानी न मिले।

मेरा हाल जितना बयान कर चुकी हूँ इतना ही कहकर छोड़ दूं और उसके बाद यह कह दूं कि बस…उसके बाद मैं आवारा हो गई—तो इससे यह ख्याल पैदा होगा कि कमबख्त मदमाती थी, शादी होने में देर हुई, किसी से आंख लगा कर निकल गई। उसने छोड़ दिया। किसी और से आशनाई की। उससे भी न बनी, आखिर होते-होते वेश्या हो गई। वाकई अक्सर ऐसा होता है। मैंने अपनी जिन्दगी में बहुत-सी बहू-बेटियों को खराब होते देखा और सुना है। इसके कारण भी कई होते हैं—एक तो यह कि जवान हो गई, शादी नहीं की, दूसरे यह कि शादी अपने पसन्द की नहीं हुई, मां-बाप ने जहां पाया, झोंक दिया—न आयु का ख्याल, न शक्ल-सूरत देखी, न शील-स्वभाव का पता लगाया। मियां से न बनी,

१. इस आवारा भटकने का आरम्भ कैसे हुआ, समाज से मुंह छिपाकर रहने की इच्छा का क्या कारण है—यह हम तो खूब जानते हैं, पर अपने दाना दोस्त को कैसे समझायेंगे।

निकल खड़ी हुई। या जवानी में सिर पर आसमां टूटा, विधवा हो गई। संयम न हो सका, दूसरा पति कर लिया। या बुरी संगति मिली, आवारा हो गई! मगर मुझ बदनसीब को संयोग और दुर्भाग्य ने मजबूर करके ऐसे जंगल में छोड़ा जहां सिवा भटकने के कोई रास्ता ही नहीं था।

दिलावर खां, जिसका मकान हमारे मकान से थोड़ी दूर पर ही था, मुआ डकैतों से मिला हुआ था। लखनऊ में बरसों क़ैद रहा। उन्हीं दिनों न मालूम किसकी सिफ़ारिश से छूट आया था। अब्बा से घोर शत्रुता रखता था। कारण यह था कि जब वह फ़ैज़ाबाद से पकड़ा गया तो मुहल्ले से उसके चाल-चलन की पूछताछ के लिए लोग बुलाये गये। उनमें अब्बा भी थे। अब्बा बेचारे थो भी दिल और ज़बान के सच्चे थे, फिर रानी वाले साहब ने उनके हाथ में कुरान देकर पूछा, "वेल जमादार, तुम सच-सच कहो यह कैसा आदमी है?" अब्बा ने साफ़-साफ़ उसका हाल बता दिया। उन्हीं की गवाही पर दिलावर खां क़ैद हो गया। यह बात मैंने अपनी मां से सुनी थी। वही द्वेष उसके दिल में जमा था। इस बार जब क़ैद से छूटकर आया तो उसने अब्बा के मुकाबले कबूतर पाले। एक दिन उसने अब्बा का कबूतर मारा, लेने को गये, न दिया। अब्बा चार आने देते थे, वह आठ आने मांगता था। अब्बा नौकरी पर चले गए। शाम को झुटपुटे में मैं न जाने क्यों बाहर निकली थी। देखती क्या हूं, इमली के नीचे दिलावर खां खड़ा हुआ है, कहने लगा, "चलो बेटा, तुम्हारे अब्बा पैसे दे गए थे, कबूतर ले लो।" मैं उसकी चालमें आ गई, साथ चली गई। जाकर देखती हूं, घर में चिड़िया तक नहीं, अकेला मकान पड़ा है। इधर मैंने घर में कदम रखा, उधर से उसने अन्दर से कुंडी लगा ली। चाहा कि चीखूं। उसने मुंह में गूदड़ ठूंस दिया। मेरे दोनों हाथ रूमाल से कस दिये। उस मकान का दरवाज़ा एक दूसरी तरफ भी था। मुझे जमीन पर बिठाकर वह गया, वह दरवाज़ा खोला और 'पीर बख्श' कहकर आवाज दी। पीर बख्श अन्दर आया। दोनों ने मिलकर मुझे एक बैलगाड़ी पर सवार किया और गाड़ी चल निकली। मेरे दम घुटे रह गये। तले की सांस तले, ऊपर की ऊपर। करूं क्या, कोई बस नहीं। दुष्ट के चंगुल में थी। दिलावर खां गाड़ी के अन्दर मुझे घुटनों में दबाये बैठा था। हाथ में छुरी थी। मुए की आँखों से खून टपक रहा था। पीरबख्श गाड़ी हांक रहा था। बैल उड़े चले जा रहे थे। थोड़ी देर में शाम हो गई। चारों तरफ अंधेरा छा गया।

जाड़े के दिन थे। सन्नाटे की हवा चल रही थी। दम निकला जाता था। मेरी आँखों से आंसू बह रहे थे, सर्दी के मारे बोटी-बोटी काँप रही थी। दिल में ख्याल आता, हाय ! किस आफत में फस गई ! अब्बा नौकरी से आये होंगे, मुझे ढूढते होंगे। अम्मा सिर पीट रही होंगी। छोटा भाई खेल रहा होगा, उसे क्या मालूम किस आफत में हूँ। मां-बाप, बहन-भाई, मकान-दालान,आंगन, रसोई घर सब-कुछ मेरी आंखो के सामने था। ये सब उधर के ख्याल थे और जान का डर इधर था। दिलावर खाँ रह-रहकर छुरी दिखाता था। मुझे लगता था कि कोई दम में यह छुरी मेरे कलेजे के पार हो जायेगी। गूदड़ अब मेरे मुंह में न था। मगर मारे डर के मुह से आवाज़ न निकलती थी। मेरा यह हाल था, उधर दिलावर खाँ और पीर बख्श मे हँस-हँसकर बातें हो रही थी। मेरे माँ-बाप और मुझ पर बात-बात में गालिया पड़ रही थी।

दिलावर खा : "देखा भाई पीर बख्श ! सिपाही का पूत बारह बरस के बाद अपना बदला लेता है। अब कैसा…तिलमिलाता फिरता होगा।"

पीर बख्श : "भाई तुमने बेशक इस कहावत को सच्चा कर दिखाया। बारह बरस तो हुए होगे तुम्हे कैद हुए ?"

दिलावर खा : "पूरे बारह बरस हुये। भाई [illegible] उठाई हैं ! खैर वह भी तो कोई दिन याद करेगा। [illegible] है। मैं तो उसको जान से मारूगा।"

पीरबख्श : "क्या यह भी इरादा है ?"

दिलावर खां : "तुम समझते क्या हो ? [illegible] पठान का बच्चा नहो।"

पीरबख्श : "भई, तुम बात के सच्चे हो, जो कहोगे, कर दिखाओगे।"

दिलावर खा : "देखना।"

पीर बख्श : और इसे क्या करोगे ?

दिलावर खां, करेंगे क्या, [illegible] के [illegible] में फेंक दो। [illegible] घर चलो।

यह बात सुनकर मुझे [illegible] का निश्चय हो गया। [illegible] गये थे, दिल को एक धक्का लगा। मेरी गर्दन गिर गई, [illegible] गये—जैसाकि मृत्यु के समय होता है। यह देखकर [illegible]

तरस न आया और घूंसा जोर से मेरे कलेजे पर मारा कि मैं बिलबिला गई, करीब आ गिर पड़ती।

पीरबख्श : इसे तो मार डालोगे और हमारा रुपया ?

दिलावर खां : गले-गले पानी।

पीरबख्श : कहां से दोगे ? हम तो कुछ और ही समझे थे !

दिलावर खां : घर चलो, कहीं से न हो सका तो कबूतर बेच दूंगा।

पीरबख्श : तुम बेअकले हो। कबूतर क्यों बेचो ? हम एक बात बतायें।

दिलावर खां : कहो।

पीरबख्श : अमा, लखनऊ चलकर इस छोकरी के दाम बाट लो।

जबसे मुझे अपने मरने का यकीन हो गया था, मुझे उन दोनों की बातें कानों से अच्छी तरह न सुनाई देती थी। यह मालूम होता था जैसे कोई सपने में बातें कर रहा है। पीरबख्श की बात सुनकर मेरे दिल को फिर अपनी जिन्दगी का कुछ आसरा बंधा। मैं दिल ही दिल में पीरबख्श को दुआएं देने लगी। अब दिल में यह उत्सुकता जगी कि देखें यह दुष्ट क्या कहता है।

दिलावर खां : अच्छा देखा जायगा, अभी चले चलो !

पीरबख्श : यहां जरा ठहर न जायें ? वह सामने पेड़ के नीचे आग जल रही है, थोड़ी आग ले आयें तो हुक्का भर लें।

पीरबख्श तो आग लेने गया, मुझे यह ख्याल हुआ कि कहीं पीरबख्श के आते-आते यह मेरा काम तमाम न कर दे। जान का डर बुरा होता है। मैंने एकदम से चीख मारी। चीख का मारना था कि दिलावर खां ने दो-तीन तमाचे मेरे मुंह पर कस कर लगाये—"हरामजादी, चुप नहीं रहती। अभी छुरी भोंक दूंगा…फैल मचाती है…!"

पीरबख्श अभी थोड़ी ही दूर गया था, बोला—नहीं भई नहीं, ऐसा काम न करना। तुम्हें हमारे सिर की कसम ! अमां हमें तो आ लेने दो।"

दिलावर खां: अच्छा जाओ, आग तो ले आओ।

पीरबख्श गया और थोड़ी देर बाद आग लेकर आया। हुक्का भरा, दिलावर खां को दिया।

दिलावर खां : (हुक्के का एक कश लगाकर) तो यह कितने तक बिक जायगी ? और बेचेगा कौन ? कहीं ऐसा न हो, पकड़े जायं तो और मुश्किल हो।

पीरबख्श: इसका हमारा जिम्मा ! हम बेच देंगे। अरे मियां, तुम्हारी बातें ! पकड़ेगा कौन ? लखनऊ में ऐसे मामले दिन-रात हुआ करते हैं। हमारे साले को जानते हो ?

दिलावर खां : करीम ?

पीरबख्श : हां, उनकी रोटी-रोजी इसी पर है। बीसियों लड़के-लड़कियां पकड़ ले गया। लखनऊ जाके दाम खड़े कर लिए।

दिलावर खां: आजकल कहां है ?

पीरबख्श : है कहां, लखनऊ में गोमती के उस पार उसकी सुसराल है, वहीं होगा।

दिलावर खां : अच्छा, लड़का-लड़की कितने में बिकते हैं ?

पीरबख्श : जैसी सूरत हुई।

दिलावर खां : यह कितने को बिक जायगी ?

पीरबख्श : सौ-डेढ़ सौ में जैसा तुम्हारे भाग्य में होगा।

दिलावर खां : सौ-डेढ़ सौ ! भाई की क्या बातें हैं ! अरे इसकी सूरत ही क्या है ! ५० मिल जायं बहुत हैं।

पीरबख्श : अच्छा इससे क्या, ले तो चलो। मार डालने से क्या फायदा !

इसके बादपीरबख्श केकान में दिलावरखां नेकुछ झुक कर कहा, जोमैंनेनहीं सुना। पीरबख्श ने जवाब दिया, वह तो हम समझे ही थे, तुम क्या ऐसे मूर्ख हो!

रात-भर गाड़ी चलती रही। मेरी जान सांसत में थी। मौत आंखों के सामने फिर रही थी। ताकत खत्म थी, बदन सुन्न हो गया था। आपने सुना होगा कि नींद सूली पर भी आती है। थोड़ी देर में आंख लग गई। तरस खाकर पीरबख्श ने बैलों का कम्बल ओढ़ा दिया। रात को कई बार चौंक-चौंक पड़ी, आंख खुल जाती, मगर डर के मारे चुपकी पड़ी रहती। आखिर एक बार डरते-डरते मुंह पर से कमली सरका कर देखा कि मैं गाड़ी में अकेली हूं। पर्दे से झांक कर देखा कि सामने कुछ कच्चे मकान हैं, एक बनिये की दुकान है: दिलावर खां और पीर-बख्श कुछ खरीद रहे थे। बैल सामने पेड़ के नीचे भूसा खा रहे थे, दो-तीन गंवार अलाव के पास बैठे ताप रहे थे, एक चिलम पी रहा था। इतने में पीरबख्श ने गाड़ी के पास आकर थोड़े-से भुने हुए चने दिये। मैं रात-भर की भूखी थी, खाने लगी। थोड़ी देर बाद एक लोटा पानी लाकर दिया। मैंने थोड़ा-सा पीया,

फिर चुपचाप पड़ रही।

बड़ी देर तक यहां गाड़ी रुकी खड़ी रही। फिर पीरबख्श ने बैल जोते। दिलावर खां हुक्का भर कर मेरे पास आ बैठा। गाड़ी रवाना हुई। आज दिन में मुझपर ज्यादा सख्ती नहीं हुई : न दिलावर खा की छुरी निकली, न मुझपर घूंसे पड़े, न घुड़कियां। दिलावर खां और पीरबख्श दोनों जगह-जगह पर हुक्का भर-भर कर पीते थे। दोनों में बातें होती जाती थी। जब बातें करते-करते थक जाते, कुछ गाने लगते, एक गाता, दूसरा सुनता। सुनता क्या सोचता कि अब क्या बात निकालें। फिर कोई बात चलती। इस बात-चीत में ऐसा भी हुआ कि आपस में गाली-गलोच होने लगी, आसतीनें चढ़ गईं, कमरें कसी जाने लगी, एक गाड़ी भर से कूद पड़ा, दूसरा वहीं से गला घोटने को तैयार हुआ। फिर बात-बात में दोनों ठंडे पड़ गए। बात आई-गई हुई। फिर मिलाप हो गया, दोस्ती की बातें होने लगी, जैसे कभी लड़े ही न थे! एक कहता, "हमारे-तुम्हारे बीच लड़ाई की बात ही क्या थी?" दूसरा कहता, 'कुछ नहीं।'

"अच्छा तो फिर इस बात को जाने दो।" दूसरा कहता, "जाने दो।"

२

दे फड़कने की इजाजत सय्याद,
शबे-अव्वल है गिरफ्तारी की।

गिरफ्तारी की पहली रात का हाल तो आप सुन चुके। हाय! वह बेबसी मरते दम तक न भूलूंगी। मुझे स्वयं आश्चर्य है कि मैं जिन्दा कैसे बची! हा! क्या कड़ी जान थी कि दम न निकला! दिलावर खा, तूने दुनिया में अपनी सजा पा ली। पर इससे मेरे दिल को क्या शांति मिली! मुए को बोटियां काट कर चीलों और कौओं को खिलाती तो भी मेरे मुह से 'आह!' न निकलती। मुझे यकीन है कि कब्र में भी तुझ पर सुबह-शाम नरक की आग पड़ती होगी और खुदा का न्याय हुआ तो कयामत के दिन तेरा इससे भी बुरा हाल होगा।

हाय! मेरे मां-बाप का क्या हाल हुआ होगा! कैसे मेरी जान को कलपते होंगे। बस मिर्जा साहब! इतनी आज कही, बाकी कल कहूंगी। अब मेरा दिल

है कि उमड़ा चला आता है ! जी चाहता है कि खूब चीखें मार कर रोऊं…।

आप मेरी आवारगी की कहानी सुनकर क्या कीजिएगा ? बेहतर है कि यहीं तक रहने दीजिए। मैं तो यह कहती हूं कि काश ! मुझे दिलावर खां मार डालता तो अच्छा था। मुट्ठी-भर खाक से मेरी आबरू तो ढक जाती, मेरे मां-बाप की इज्जत को धब्बा न लगता, यह दीन-दुनिया की रुसवाई तो न होती !

हां, मैंने एक बार अपनी मां को फिर देखा था—एक युग बीत गया तब। अब खुदा जाने जीती है या मर गई ! सुना है कि छोटे भाई के एक लड़का है—माशा-अल्लाह चौदह-पन्द्रह बरस का। दो लड़कियां हैं। मेरा बरबस जी चाहता है कि सब को देखूं। कुछ ऐसा दूर भी नहीं। मुए एक रुपये में तो आदमी फैजाबाद पहुंच सकता है। मगर क्या करूं, मजबूर हूं। उस जमाने में जब रेल न थी फैजाबाद से लखनऊ चार दिन का रास्ता था। पर दिलावर खां इस डर से कि कहीं कोई पीछा न करे, न मालूम किन बीहड़ रास्तों से लखनऊ लाया कि आठ दिन में लखनऊ पहुंची। मुझ निगोड़ी को क्या खबर थी कि लखनऊ कहां है। मगर दिलावर खां और पीरबख्श की बातों से इतना समझ गई थी कि ये लोग मुझे वहीं ले जा रहे हैं। लखनऊ का नाम मैं घर में सुना करती थी, क्योंकि मेरे नाना यहीं किसी महल की ड्योढ़ी पर सिपाही थे। घर में उनका जिक्र होता ही रहता था। एक बार वह फैजाबाद भी आये थे। मेरे लिए बहुत-सी मिठाइयां और खिलौने लाये थे। मैं उन्हें अच्छी तरह पहचानती थी।

लखनऊ में गोमती के उस पार करीम की सुसराल में मुझे लाकर उतारा गया। छोटा-सा कच्चा मकान था ! करीम की सास मुई मुर्दे गहेजने वाली-सी प्रतीत होती थी ! वह मुझे घर में ले गई और एक कोठरी में बंद कर दिया। सुबह होते ही लखनऊ पहुंच गई थी, दोपहर तक बंद रही। फिर कोठरी का दरवाजा खुला। एक जवान-सी औरत (करीम की पत्नी) तीन चपातियां और चम्मच-भर माश की दाल व एक बधनी पानी को मेरे आगे रखकर चली गई। मेरे लिए उस समय वही नियामत थी। आठ दिन हो गये थे, घर का पका खाना नसीब नहीं हुआ था। रास्ते में चने और सत्तू के सिवा कुछ न मिला था। आधी बधनी पानी पी गई और उसके बाद जमीन पर पांव फैलाकर सो गई। खुदा जाने कितनी देर सोई ! इस अंधेरी कोठरी में दिन-रात का कुछ पता ही नहीं चलता था। बीच-बीच में कई बार आंख खुली, चारों तरफ अंधेरा, कोई आस न पास,

फिर ओढ़नी से मुंह ढांप कर पड़ी रहती। फिर नींद आ जाती। तीसरी-चौथ बार जो आंख खुली तो फिर नींद न आई। पड़ी जागती रही। इतने में करीम की सास डायन-सी बकती-बड़बड़ाती अन्दर आई। मैं उठ बैठी।

"लौंडिया, कितनी सोती है! रात को चीखते-चीखते गला पड़ गया, झंझोड़-झंझोड़ कर उठाया, सांस ही न ली! मैं तो समझी थी, सांप सूंघ गया! ऐ लो, यह तो उठ बैठी!"

मैं चुप सुनती रही। जब खूब बक चुकी तो पूछने लगी, "प्याला कहां है?" मैंने उठा दिया। वह लेकर बाहर निकली। कोठरी का दरवाजा फिर बंद हो गया। थोड़ी देर के बाद करीम की औरत आई। उस कोठरी में लगी एक खिड़की थी, उसे खोल दिया। मुझे बाहर निकाला। एक टूटा-सा खण्डहर पड़ा था, वहां आकर आसमान देखना नसीब हुआ। थोड़ी देर बाद फिर उसी काल-कोठरी में बंद कर दी गई। आज अरहर की दाल और ज्वार का दलिया खाने को मिला।

इसी तरह दो दिन बीते। तीसरे दिन एक और लड़की जो मुझ से आयु में दो-एक बरस बड़ी थी, इसी कोठरी में लाकर बंद की गई। करीम खुदा जाने कहां से उसे फुसलाकर ले आया था। बेचारी कैसी जार-जार रोती थी! उसका आना मेरे लिये गनीमत हो गया। जब वह रो-धो चुकी तो चुपके-चुपके हममें बीच बातें होने लगीं। किसी बनिये की लड़की थी—रामदेई नाम था। सीतापुर के पास किसी गांव की रहने वाली थी। अंधेरे में तो उसका चेहरा दिखाई न दिया, जब दूसरे दिन उसी तरह खिड़की खोली गई तो उसने मुझे देखा, मैंने उसे। गोरी-गोरी थी—बहुत सुन्दर! नैन-नक्श सुन्दर! बदन की छरहरी थी! चौथे दिन उस काल कोठरी से उसकी रिहाई हुई, मैं वहीं रही। मेरे लिए फिर वही तनहाई—अकेलापन! फिर दो दिन अकेली रही। तीसरे दिन रात के समय दिलावर खां और पीर बख्श ने आकर मुझे निकाला। अपने साथ लेकर चले। चांदनी रात थी। पहले एक मैदान फिर एक बाजार में से होकर गुजरी। फिर एक पुल पर आये, दरिया लहरें मार रहा था, ठण्डी हवा चल रही थी, मैं कांप रही थी। थोड़ी देर के बाद एक बाजार और आया। उससे निकल कर एक तंग गली में बहुत दूर तक चलना पड़ा। पांव थक गये। इसके बाद एक और बाजार में आये। यहां बड़ी भीड़ थी, रास्ता बड़ी मुश्किल से मिलता था। अब एक मकान के दरवाजे पर पहुंची।

मिर्जा रुसवा साहब ! आप समझे कि यह कौन-सा बाजार था ? यह वही बाजार था, जहां आबरू बेचने का मेरा धन्धा आरम्भ हुआ यानी चौक। और यह वह मकान था जहां से मान-अपमान, बदनामी-नेकनामी, अच्छाई-बुराई जो मुझे दुनिया मे मिलना था मिला—यानी खानम जान का दरवाजा खुला हुआ था, थोड़ी दूर पर सीढ़ियाँ थी। सीढ़ियाँ चढकर ऊपर गई। मकान के बरामदे से होकर, मुख्य दालान के दायी तरफ एक खुले आंगन में खानम जान के पास गई।

खानम साहब को आपने देखा होगा, उस समय वह करीब पचास बरस की थी। क्या शानदार बुढ़िया थी ! रंग तो सांवला था, मगर ऐसी भारी-भरकम बढ़िया बेशभूषा वाली औरत न देखी, न सुनी। बालों के आगे की लटें बिल्कुल सफेद थी, उनके चेहरे पर भली मालूम होती थी। मलमल का दुपट्टा सफेद और ऐसा बारीक चुना हुआ कि शायद ही कहीं और दिखाई दे। सुनहरी जरी के तार का पायजामा, बड़े-बड़े पाँयचे,हाथों में मोटे-मोटे सोने के कड़े—कलाईयो में फंसे हुए। कानों में दो-दो बालियाँ लाख-लाख बनाव (शोभा) देती थीं। खानम जान की लड़की बिस्मिल्ला का रंग-रूप, नैन-नक्श अपनी मां जैसे थे, मगर वह आकर्षण कहाँ था ! खानम जान की उस दिन की सूरत मुझे आज तक याद है। वह कालीन बिछे एक छोटे पलंग पर बैठी थी। सामने कमल के फूल जैसा लैम्प जल रहा था, बड़ा-सा नक्काशी वाला पानदान आगे खुला रखा था। लम्बी नलकी वाला पेचवान हुक्का पी रही थी। सामने एक साँवली-सी लड़की (बिस्मिल्ला-जान) नाच रही थी ! हमारे जाने से नाच बन्द हो गया। सब लोग कमरे से चले गए। मामला तो पहले तै हो चुका था !

'यह छोकरी है ?' खानम जान ने कहा।

दिलावर खां : जी हां।

मुझे खानम ने पास बुलाया, चुम्कार कर बैठाया। माथा उठाकर सूरत देखी।

खानम जान : अच्छा ! फिर हमने जो कह दिया है, मौजूद है ! और दूसरी छोकरी क्या हुई ?

पीरबख्श : उसका तो सौदा हो गया।

खानम : कितने पर,?

पीरबख्श : दो सौ पर।

खानम : अच्छा खैर ! कहां पर ?

पीरबख्श : एक बेगम साहबा ने अपने साहबज़ादे के वास्ते मोल लिया है।

खानम . सूरत-शक्ल की अच्छी होगी। इतने हम भी दे देते। मगर तुम जल्दी की।

पीरबख्श : मैं क्या करूँ, मैंने तो बहुत समझाया, मेरा साला नहीं माना

दिलावर खां : सूरत तो इसकी भी अच्छी है, आगे आप की पसन्द !

खानम : खैर है तो आदमी का बच्चा।

दिलावर खां : अच्छा जो कुछ है, आपके सामने हाज़िर है।

खानम : 'अच्छा तुम्हारी ही ज़िद सही !' यह कहकर हुसैनी को आवा दी। हुसैनी—एक सावली अधेड़ औरत आकर सामने खड़ी हो गयी।

खानम : 'हुसैनी !'

हुसैनी : 'खानम साहब !'

खानम : 'बक्सा लाओ।' हुसैनी गई, बक्सा ले आई। खानम साहबा ने खोला; बहुत-से रुपये दिलावर खां के सामने रख दिए। बाद में मालूम हुआ सवा सौ रुपये दिये थे। उनमे से कुछ पीरबख्श ने गिनकर अपने रूमाल में ब (सुना है कि पचास थे), शेष दिलावर खां ने अपने पास रखे। दोनों सलाम क चले गए। अब कमरे में खानम साहबा थीं, और बुआ हुसैनी तथा मैं।

खानम साहब : (हुसैनी से) 'हुसैनी, यह छोकरी इतने दामों में कुछ मह तो नहीं मालूम होती ?'

हुसैनी : महंगी ! मैं कहती हूं सस्ती !

खानम—सस्ती भी नहीं है ! सूरत तो भोली-भाली है, खुदा जाने किस लड़की है? हाय ! मां-बाप का क्या हाल हुआ होगा ! खुदा जाने मुए कह पकड़ लाते हैं, ज़रा भी खुदा का डर नहीं ! बुआ हुसैनी, हम लोग बिलकुल नि हैं। पाप-पुण्य इन्हीं मुओं की गरदन पर होता है। हमसे क्या, आखिर यह बिकती, कहीं और बिकती।

हुसैनी—खानम साहब, यहां फिर अच्छी रहेगी। आपने सुना नहीं, घरानों की औरतों मे रहते इन बांदियों की क्या गत होती है !

खानम—सुना क्यों नहीं। यह अभी उस दिन की बात है, सुना है कि सुलतान

जहान आरा बेगम ने अपनी बादी को मियां से बातें करते देख लिया था, सीखचों से दाग-दाग कर मार डाला !

हुसैनी—दुनिया में चाहे जो कर लें ! कयामत के दिन ऐसी गृहिणियों का मुंह काला होगा।

खानम : मुंह काला होगा ! नरक की आग पड़ेगी।

हुसैनी : 'अच्छा होगा, मुइओं की यही सजा है।' इसके बाद बुआ हुसैनी ने बड़ी विनय के साथ कहा, "बीबी, यह छोकरी तो मुझे दे दीजिए, मैं पालूंगी। माल आपका है, सेवा मैं करूंगी।"

खानम · 'तुम्ही पालो।' अब तक तो बुआ हुसैनी खड़ी हुई थी। इस बात-चीत के बाद मेरे पास बैठ गयी, मुझसे बातें करने लगी।

हुसैनी : बच्ची, तू कहां से आई है ?

मैं . (रोती हुई) बंगले से।

हुसैनी. बगला कहां है ?

खानम: ऐ है, क्या नन्हीं हो ? फ़ैजाबाद को बगला भी कहते हैं।

हुसैनी: (मुझ से) तुम्हारे अब्बा का क्या नाम है ?

मैं: जमादार !

ख़ानम: तुम भी गजब करती हो, भला वह नाम क्या जाने ! अभी बच्ची है।

हुसैनी: अच्छा तुम्हारा नाम क्या है ?

मैं: अमीरन।

ख़ानम· भई, यह नाम तो मुझे पसंद नही, हम तो उमराव कहकर पुकारेंगे।

हुसैनी: सुना, बच्ची ! उमराव के नाम पर तुम बोला करो। जब बीबी कहें 'उमराव' तुम कहना 'जी।'

उस दिन से उमराव मेरा नाम हो गया। थोड़े दिनों के बाद जब मैं वेश्याओं की गिनती मे आई तो लोग उमराव जान कहने लगे। खानम साहब मरते दम तक 'उमराव' कहती रही। बुआ हुसैनी उमराव साहब कहती थी।

इसके बाद बुआ हुसैनी मुझे अपने साथ अपनी कोठरी मे ले गईं। अच्छा-अच्छा खाना खिलाया, मिठाइयां खिलाईं, हाथ-मुंह धुलाया, अपने पास सुलाया।

उस रात मैंने मां-बाप को सपने मे देखा : जैसे अब्बा नौकरी पर से आए हैं, मिठाई का दोना हाथ में है, छोटा भाई सामने खेल रहा है। उसको मिठाई की डलियां निकाल कर दी, मुझे पूछ रहे हैं, जैसे मैं दूसरे दालान में हूं। अम्मा रसोई घर में हैं। इतने में अब्बा को जो देखा तो दौड़कर उनसे लिपट गई। रो-रोकर अपना हाल कह रही हूँ। सपने मे इतना रोई कि हिचकियां बंध गईं। बुआ हुसैनी ने जगाया। आंख जो खुली तो क्या देखती हूं, न वह घर है, न वह दालान। अब्बा हैं न अम्मां, बुआ हुसैनी की गोद में पड़ी रो रही हूँ। वह आंसू पोंछ रही हैं। दीपक जल रहा था—मैंने देखा कि बुआ हुसैनी के आंसू भी बराबर जारी थे।

वास्तव में बुआ हुसैनी बड़ी नेक औरत थी। उसने मुझ से ऐसा स्नेह किया कि कुछ ही दिनों में मैं अपने मां-बाप को भूल गई। और भूलती न तो करती क्या! एक तो मजबूरी, दूसरे नये मकान, नये रंग-ढंग, अच्छे से अच्छा खाने को—खाने वह जिनके स्वाद को मैंने कभी जाना भी न था, कपड़े वह जो मैंने कभी सपने में भी नहीं देखे थे! तीन लड़कियां—बिस्मिल्ला जान, खुर्शीद जान, अमीर जान—साथ खेलने को। दिन-रात नाच-गाना, जलसे, तमाशे, मेले-ठेले, बागों की सैर—वह कौन-सा ऐसा ऐश-आराम का सामान था जो प्राप्त न था!

मिर्ज़ा साहब, आप कहेंगे कि मैं बड़े कट्टर दिल की लड़की थी कि बहुत शीघ्र अपने मां-बाप को भूलकर खेल-कूद में पड़ गई। यद्यपि मेरी आयु बहुत कम थी, मगर खानम के यहां आते ही मेरा दिल जान गया था कि मुझे अब आयु-भर यहीं रहना है। नव-वधू अपने सुसराल जाकर समझ लेती है कि मैं यहां एक-दो दिन के लिए नहीं, बल्कि जीवन-भर अच्छे-बुरे दिन काटने आई हूं, ठीक वही मेरा हाल था। रास्ते में मुए डकैतों के हाथ से वह मुसीबत उठाई थी कि खानम का घर मेरे लिये स्वर्ग-सा था। मां-बाप से मिल पाना मैंने बिल्कुल असंभव समझ लिया था और जो बात असंभव समझ ली जाती है, उसकी आशा और आकांक्षा बाकी नहीं रहती। यद्यपि फैज़ाबाद लखनऊ से केवल ४० कोस दूर है, मगर उस समय मुझे बेहद दूर मालूम होता था। बचपन की समझ और अब की समझ में बड़ा अन्तर है।

३

इक हाल में इन्सान् की बसर हो नहीं सकती,
अब रंग तबीयत का बदल जाय तो अच्छा !

मिर्जा रुसवा साहब ! खानम का मकान तो आपको याद होगा, कितना खुला था, कितने कमरे थे ! सब में वेश्याएं रहती थी। कुछ हम-जैसी नौसिखिया थी, जिनकी अभी वेश्याओं में गिनती नहीं थी। बिस्मिल्ला और खुर्शीद मेरी ही आयु की थी। दस-ग्यारह ऐसी थी जो अलग-अलग कमरों मे रहती थी। हरेक के साजिन्दे-बाजिन्दे, सेवक-सेविकाएं अलग-अलग थे। हरेक की महफिल अलग होती थी। एक से एक सुन्दर थी। सब हर समय बनी-ठनी—भारी जोड़े-जेवर पहने रहती थी। सादे कपड़े जो हम लोग रोज पहने रहते थे, वे उन वेश्याओं को ईद, बक्र ईद में भी नसीब नहीं होते थे। खानम का मकान था कि एक परीस्तान था। जिस कमरे में जा निकलो, सिवा हंसी-मजाक, गाने-बजाने के और चर्चा न था। यद्यपि मैं उम्र में छोटी थी, मगर फिर भी नारी होशियार होती है—अपने मतलब की बात समझती थी। बिस्मिल्ला व खुर्शीद को गाते-नाचते देखकर मेरे दिल में अपने आप एक उमग-सी पैदा हुई। स्वयं ही गुनगुनाने और थिरकने लगी। इसी बीच मेरी शिक्षा भी शुरू हो गई। गायन-कला की ओर मेरे दिल का रुझान खूब पाया गया। आवाज भी पक्के गाने के योग्य थी। सरगम साफ होने के बाद उस्ताद ने गाने गवाने शुरू करा दिये। उस्ताद जी नियम-कायदे से सिखाते थे। हर राग का ब्योरा जबानी याद कराया जाता था और उसी प्रकार गले से निकलवाते थे—मजाल न थी कि कोई स्वर कोमल से अति कोमल, शुद्ध से अशुद्ध या तीव्र से तीव्रतर हो जाय। और मेरी भी हुज्जतें करने की आदत थी। पहले तो उस्ताद जी (खुदा करे उनकी आत्मा लज्जित न हो) टाल दिया करते थे।

एक दिन खानम साहब के सामने मैं राग रामकली गा रही थी। सुर शुद्ध लगा गई। उस्ताद जी ने न टोका। खानम साहब ने फिर दोहरवाया, मैंने फिर उसी तरह गाया। उस्ताद जी अब भी सचेत न हुए। खानम साहब ने घूरकर

देखा, मैं उस्ताद जी का मुंह देखने लगी। उन्होंने सिर झुका लिया। फिर तो खानम ने उन्हें आड़े हाथों लिया :

खानम : उस्ताद जी, यह क्या था ? रामकली में उच्चार धैवत से है और वही स्वर ठीक नहीं ! मैं आपसे पूछती हूं कि धैवत कोमल है कि शुद्ध ?

उस्ताद : कोमल।

खानम : ओ छोकरी, तूने क्या गाया था ?

मैं : शुद्ध।

खानम : फिर आपने टोका क्यों नहीं ?

उस्ताद मुझे कुछ ख्याल नहीं रहा !

खानम · वाह ! ख्याल क्यों नहीं रहा ? इसीलिए मैंने दोबारा कहलवाया, फिर भी आप मुंह मे दाने भरे बैठे रहे। आप इसी तरह छोकरियों को सिखाते हैं ! अभी किसी समझदार के सामने इस तरह गाती तो वह मेरे जन्म पर क्या थूकता ?

उस्ताद जी बहुत लज्जित हुए, चुप रहे। मगर दिल में बात लिये रहे। वह अपने को नायक समझते थे और थे भी वैसे। उस दिन खानम का टोकना उन्हें बहुत बुरा लगा। एक दिन ऐसा संयोग हुआ कि मैं सूहा गा रही थी। खानम भी उपस्थित थीं। मैंने उस्ताद जी से पूछा, "गंधार इसमें कोमल है या अति-कोमल ?"

उस्ताद जी : अति कोमल।

खानम : खां साहब, माशा-अल्लाह ! यह मेरे सामने ?

उस्ताद : क्यों ?

खानम : और फिर आप यह मुझी से पूछते हैं, क्यों ? सूहा में गंधार अति-कोमल है ? भला आप तो कहिये ?

उस्ताद जी सूहा गाने लगे और गंधार कोमल ही लगाया।

खानम : बस आप ही मानिये। आप स्वयं कोमल स्वर कहें और छोकरी को बहकाते हैं या मुझे कहते हैं ? खां साहब, मैं कुछ यूं ही नहीं हूं। दावे से कहती हूं, चाहे गले से स्वर ठीक नहीं निकाल सकती, पर इन कानों ने क्या नहीं सुना-परखा। मैं भी ऐसे-वैसे घराने की सीखी हुई नहीं हूं—मियां गुलाम रसूल को आप जानते होंगे ! खैर, इन बातों से क्या लाभ ? अगर सिखाना हो तो दिल

से सिखाइये, नहीं तो माफ कीजिये, मैं कोई और प्रबंध कर लूंगी। छोकरियों को गारत न कीजिये।

'बहुत खूब !' यह कहकर उस्ताद जी उठ गये, कई दिन नही आये। खानम खुद शिक्षा देने लगी। कुछ दिन बाद खलीफा जी बीच मे पड़े तो कसमा-कसमी होकर मेल-मिलाप हो गया। उस दिन से उस्ताद जी ठीक-ठीक बताने लगे। बताते न तो क्या करते। पहले वह खानम को इतना नही समझते थे। मुझे सदा आश्चर्य रहा कि खानम ज्यादा जानती हैं या उस्ताद जी, क्योंकि बहुत-सी बातें जो खानम से मालूम हुईं, उस्ताद जी उनको न बता सकते थे या जान-बूझकर बताते न थे। लाख कसमें खाई गई थी, मगर फिर भी ये लोग गुर की बातें नही बताते। मुझे कुछ ऐसा चाव हो गया था कि जहां किसी बात मे जरा संदेह होता या मैं समझती कि उस्ताद जी टाल रहे है तो उस्ताद जी के जाने के बाद खानम साहब से पूछ लेती थी। वह मेरे इस शौक से बहुत ही खुश होती थी। बिस्मिल्ला को लानत-फटकार देती थी। बिस्मिल्ला पर बहुत मेहनत हुई, पर टप्पा, ठुमरी के सिवा उसे कुछ न आया। खुर्शीद की आवाज अच्छी न थी—सूरत परी की, गला ऐसा जैसे फटा बांस ! हां, नाचने मे अच्छी थी, और यही उसने सीखा भी था। उनका मुजरा केवल नाच का होता था, यों गाने को कोई एकाध चीज सीधी-सादी गा भी देती थी कि गाने का नाम भी हो जाये।

खानम की नौसिखियों में बेगा जान गाने मे श्रेष्ठ थी। मगर सूरत वह कि रात को देखो तो डर जाओ ! काली, जैसे उल्टा तवा। उस पर चेचक के दाग ! पाव-भर कीमे से भी गड्ढे भरे न जायं ! लाल-लाल आखें। भद्दी, बीच में से पिचकी हुई नाक ! मोटे-मोटे होंठ, बड़े-बड़े दांत—बाहर को निकलते थे। इस पर ठिगना कद। लोग बौनी हथनी कहकर फब्ती कसते थे। मगर गला कयामत का था ! संगीत-गायन का ज्ञान बहुत था। मूर्च्छना उन्ही के गले से बढ़िया निकलते सुना। मैं जब उनके कमरे मे जा निकलती, मारे फरमाइशों के तंग कर देती थी।

मैं : बाजी, हां, जरा सरगम तो कहना।

बेगा : सुनो—सा, रे, गा, मा, पा, धा, नी...

मैं : मैं यह नही मानती। सुरतियां अलग-अलग करके बताओ।

बेगा : लड़की, तू तो बहुत सताती है। अपने उस्ताद जी से क्यों नहीं पूछती ?

मैं : बाजी, अल्लाह का वास्ता, तुम्हीं [illegible]

बेगा : सारे गा मा पा धा नी, देख बाईस हुई।
४ ३ २ ४ ४ ३ २

मैं : (शरारत से) ऊई। मैंने नहीं गिनी, फिर कहो।

बेगा : जा अब नहीं कहती।

मैं : वाह ! मैं तो कहलवा के छोड़ूँगी।

बेगा : (फिर वही कह दिया) ले अब न मता।

मैं : हां, अब की बार गिनी। निखावी दो हैं न ?

बेगा : हां, दो।

मैं : तो ठीक बाईस हुई । अच्छा ले, अब तीनों ग्राम कह दो।

बेगा : ले, अब टहल, कल आइयो।

मैं : अच्छा तानपूरा ले आऊं, कुछ गाओ।

बेगा : क्या गाऊं ?

मैं : धन्नाश्री।

बेगा : क्या गाऊं—आस्ताई, ध्रुपद, तराना…?

मैं : बाजी, ध्रुपद गाओ।

बेगा : ले सुन—

तन की ताप तबहि मिटे जब पिया को दृष्टि भर देखूंगी।
जब दरसन पाऊंगी उनको तबहि जो जनम अपना लेखूंगी।
अष्ट जाम ध्यान मोहे याको रहत, न जानूं कब दरसन भेटूंगी।
जो कोऊ परम प्यारे से मिलावे वाके पायन में सीस टेकूंगी।

खानम जान की लड़कियों को केवल नाच-गाने की ही शिक्षा नहीं दी जाती थी, बल्कि लिखने-पढ़ने के लिए स्कूल भी था। मौलवी साहब नौकर थे। मैं भी स्कूल में भेजी गई। मौलवी साहब का तेजस्वी मुख, सफेद कतरवां दाढ़ी, सूफियाना पहनावा, हाथ में नगदार बढ़िया अगूठियां, मक्के की पवित्र मिट्टी की माला, उसमें माथा टेकने की बंधी हुई डलिया, चांदी की मूठ की छड़ी ! बहुत ही बढ़िया पेचदार हुक्का ! अफीम की डिबिया, प्याली आदि सब सामग्री आज तक आंखों में ताजा हैं। क्या परिष्कृत रुचि थी ! व्यवहार के ऐसे सच्चे कि किसी समय बुआ हुसैनी से संयोगवश कुछ सम्बन्ध हो गया था, आज तक उसे निभाये जाते थे। बुआ हुसैनी भी उन्हें अपना धर्म-पति समझती थी। बुढ़िया-बुड्ढे में इस मजे

की बातें होती थीं कि जवानों में टमग दौड़ जाती थी। उनका घर कहीं जैदपुर की तरफ था। घर पर खुदा का दिया जमीन-जायदाद, मकान, बीवी, जवान लड़के-लड़कियां—सब-कुछ था। मगर स्वयं जब शिक्षा-दीक्षा के लिए लखनऊ आए तो यहीं रहने लगे। दो-चार बार ही शायद घर गए होंगे। घर वाले बहुत बार यहीं मिलने चले आते थे। घर से कभी-कभी कुछ आया भी करता था, दस रुपये खानम साहब देती थीं। यह सब बुआ हुसैनी को मिलता था। खाने-पीने, हुक्के-अफीम का खर्चा बुआ हुसैनी उठाती थीं। हिसाब-किताब बुआ हुसैनी रखती थीं। कपड़ा भी वही बनवा देती थीं। खानम भी मौलवी साहब को बहुत मानती थीं, बल्कि मौलवी साहब के कारण ही बुआ हुसैनी का लिहाज करती थीं।

यह तो आपको मालूम है कि मेरा लालन-पालन बुआ हुसैनी ने अपने जिम्मे ले लिया था, इसलिए मौलवी साहब भी मेरा विशेष ध्यान रखते थे। यह तो मैं अपनी ज़बान से नहीं कह सकती कि वह मुझे क्या समझते थे, पर और लड़कियों से ज्यादा प्यार और ध्यान से मुझे पढ़ाते थे। मुझ-जैसी अनपढ़-अनगढ़ को उन्होंने आदमी बना दिया। यह उन्हीं के चरणों में बैठने का प्रसाद है कि जिस अमीर व रईस की महफिल में गई, योग्यता से ज्यादा आदर और सम्मान मिला। उन्हीं के कारण आप-जैसे योग्य, शिक्षित और सभ्य लोगों में मुंह खोलने की हिम्मत हुई, शाही दरबारों में शामिल होने का गौरव प्राप्त हुआ, उच्चवर्ग की बेगमों के महलों में आना-जाना हुआ।

मौलवी साहब ने बड़े प्यार से मुझे पढ़ाया था। अलिफ-बे खत्म होने के बाद फारसी की आरंभिक पुस्तकें करीमा, मामकीमा, महमूदनामा, सर्फरवां पढ़ीं। उसके बाद ग्रामर आमदनामा याद कराया और तब शेखसादी का गुलिस्तान शुरू कराया। दो पंक्तियां पढ़ाते थे और खूब समझाते थे। पाठ—विशेषतः कविता जबानी याद कराते थे। एक-एक शब्द के अर्थ और वाक्य-रचना जबान पर चढ़े थे। लिखने-पढ़ने में बड़ा परिश्रम किया गया, लेख सुधारा गया, खत लिखवाये गए। गुलिस्तां के बाद फारसी की और किताबें पानी हो गई थीं। सब पाठ फर्राटे से याद होते थे। अरबी की ग्रामर और दो-एक नीति-शिक्षा के गुटके भी पढ़े। सात-आठ बरस मौलवी साहब के पास पढ़ती रही। शायरी में मेरी आरंभिक रुचि और उसके विकास से आप स्वयं परिचित हैं, बताने की जरूरत नहीं।

४

हम नहीं उनमें जो पढ़ लेते हैं तोते की तरह,
मकतबे इश्क़-ओ-वफ़ा तजुर्बा-आमोज़ भी था।

स्कूल में मुझ समेत तीन लड़कियां थी और एक लड़का था गौहर मिर्जा—बेहद शरीर, दुष्ट सब लड़कियो को छेड़ता था। किसी को मुह चिढ़ा दिया, किसी की चुटकी ले ली, उसकी चोटी पकड़कर खीच ली! उसके कान दुखा दिये, दो लड़कियों की चोटिया एकमे जकड़ दी। कही कलम की नोक तोड़ दी, कहीं किताब पर दवात उलट दी! गरज कि उसके मारे नाक मे दम था। लड़कियां भी खूब उसके जमाती थी, मौलवी साहब भी खूब सजा देते थे, पर वह अपनी करनी से न चूकता था। सबसे बढ़कर मेरी गत बनाता था, क्योंकि मैं सबसे अकेली और लजीली थी और मौलवी साहब के दबाव मे रहती थी। मैंने मौलवी साहब से कह-कहकर उसे बड़ी मार पिटवाई, मगर निर्लज्ज किसी तरह बाज न आया। आखिर मैं भी चुगलियां खा-खाकर थक गई। मेरी गुहार पर मौलवी साहब उसे बड़ी निर्दयता से मारते थे कि मुझे भी तरस आ जाता था।

गौहर मिर्जा के इस स्कूल मे आने का कारण भी बुआ हुसैनी थी। नवाब सुल्तानअली खां एक बडे उच्चकुल के रईस थे। उनका बन्नो डोमनी से संबंध हो गया। उन्ही से यह लडका (गौहर) पैदा हुआ। यद्यपि बन्नो से नवाब साहब का सम्बन्ध टूटे अब मुद्दत हो गई थी, मगर लड़के के लालन-पालन के लिए नवाब साहब की ओर से प्रायः हर माह दस रुपये दिये जाते थे और अपनी बेगम से छिप के कभी-कभी बुलाकर लड़के को देख भी लिया करते थे। बन्नो काजी के बाग की रहनेवाली थी। वही बुआ हुसैनी के भाई का घर था—साथ-साथ, केवल खिडकी बीच मे थी। गौहर मिर्जा बचपन से ही शरीफ-ज़ात थे। तमाम मुहल्ले का नाक मे दम था—किसी के घर मे ढेला फेंक दिया, किसी लड़के से चरकोओं का पिंजरा देखने को मांगा, उसने दे दिया, आपने खिड़की की तीली खोल दी, सब चरकोए फुर्र-से उड़ गए! गरज कि तरह-तरह के दुःख देते थे। आखिर मां ने तंग आकर मुहल्ले की मस्जिद में एक मौलवी साहब के पास बैठा दिया। यहां

भी आपने अपने हथकण्डे न छोडे। सब सहपाठियो को तग करना शुरू कर दिया। इसके कुर्ते मे मेढक छोड दिया, उसकी टोपी फाड़ डाली! एक लडकी की जूती उठाकर कुए मे डाल दी!

एक दिन मौलवी साहब नमाज पढ रहे थे। हजरत ने उनका नया चढवां जूता हौज मे तैरा दिया, खुद बैठे हुए तमाशा देख रहे हैं। इतने मे मौलवी साहब सिर पर आ पहुचे। अब गोहर मिर्जा की खूब मरम्मत हुई। मौलवी साहब ने मारे तमाचों के मुह लाल कर दिया और कान पकडे हुए बन्नो के घर पर ले आए: दरवाजे पर से ही पुकार कर कहा—"लो साहब, अपना लडका लो, हम इसे नही पढ़ायेगे।" यह कहकर मौलवी साहबलौट गए। गोहर मिर्जा सताई हुई सूरत से रोते हुए घर मे दाखिल हुए। उस समय बुआ हुसैनी बैठी हुई बन्नो से बातें कर रही थी। लड़के का जो यह हाल देखा तो उन्हे बहुत ही तरस आया। लडके की करतूतें तो जानती न थी, मौलवी साहब का बुरा-भला कहने लगी: ए हैं, मौलवी काहे को, मुआ कसाई है। लड़के का मुंह मारे तमाचो के लाल कर दिया। ऐ लो, कान भी लहूलुहान कर दिये! बीवी, ऐसे मौलवी से कोई पढवाये! आखिर हमारे मौलवी साहब भी तो पढ़ाते हैं! कैसा चुम्कारकर दुलार से पढ़ाते हैं!

बन्नो ने छूटते ही कहा—फिर बला से! बुआ हुसैनी, इसको अपने मौलवी साहब के ही पास ले जाओ।

बुआ हुसैनी—ले तो जाऊं, मगर दूर बहुत है।

बन्नो: तुम्हारे भाई के साथ सुबह को भिजवा दिया करूंगी, शाम को बुला लिया करूंगी।

बुआ हुसैनी: अच्छा तो भिजवा दिया करो।

मौलवी साहब से क्या पूछना था! बुआ हुसैनी को अपनी बात पर भरोसा था, जानती भी थी कि मौलवी साहब इन्कार तो करेंगे नही।

दूसरे दिन बुआ हुसैनी के भाई अलीबख्श गोहर मिर्जा कोसाथ लिए, मिठाई की थाली सिर पर रखे बुआ हुसैनी के पास पहुंचे। बुआ हुसैनी ने खुशी-खुशी मिठाई बांटी और लड़के को मौलवी साहब के पास बिठा दिया।

गोहर मिर्जा सबसे ज्यादा मुझे सताता था। दिनरात चीख-पुकार का शोर रहता था। मौलवी साहब ने उसे बहुत-बहुत मारा, पर उसने मुझे सताना न

छोड़ा। इसी तरह कई बरस बीत गए। आखिर मेरी-उसकी सुलह हो गई—या यूं कहिए कि मैं उसके सताने की आदी हो गई।

गौहर मिर्जा की और मेरी आयु में थोड़ा ही अन्तर था। शायद वह मुझ से दो-एक साल बड़ा था। जिन दिनों का मैं हाल लिख रही हूं, उस समय मेरी आयु कोई तेरह बरस की थी और गौहर मिर्जा चौदह-पन्द्रह साल का था। गौहर मिर्जा के सताने में मुझे मजा आने लगा। उसकी आवाज बहुत अच्छी थी। डोमनी का लड़का था, सुरीला लयदार गला कुदरती था, सुर-ताल निकालने मे तेज। अंग-अग फड़कता था। उधर मैं भी सुर-लय से खूब वाकिफ थी। जब मौलवी साहब स्कूल मे न होते थे, तो खूब राग-रग जमता था। कभी मैं गाती, वह सगंत देता, कभी वह गाता, मैं ताल देती। गौहर मिर्जा की आवाज पर और वेश्याएं भी मुग्ध थीं। हरेक उसे अपने कमरे मे बुलाती थी। उसके साथ मैं भी जरूर जाती थी, क्योंकि मेरी-उसकी संगत के बिना मजा ही न आता था। सबसे ज्यादा अमीरजान उसके गाने पर लट्टू थीं। मिर्जा साहब, "आपको वह जमाना तो याद है, अमीरजान का ?"

मिर्जा साहब : याद है, कहे जाओ।

अमीरजान का वह जमाना जब वह मुफ्तखारुद्दौला बहादुर की सेवा मे थीं! अल्ला रे ! जोबन के ठाठ ! वह उठती हुई जवानी !!

खिलती-खिलती वह चम्पई रंगत : भोली-भोली यह मोहनी सूरत।
बांकी बांकी अदाएं होशरुबा : तिरछी-तिरछी निगाहें क़हरे खुदा।

बूटा-सा कद, छरेरा बदन, कोमल-कोमल हाथ-पांव !

रुसवा : अब तो जब मैंने उनको देखा तो खूंटी पर टांगने के काबिल ही थीं। ऐसी बुरी सूरत हो गई कि देखा नही जाता था !

"कहा देखा था ?"

"उन्हीं के घर मे देखा था। जिनके कमरे के सामने शाह साहब गेरुवे कपड़े पहने हजार दाने की माला हाथ में लिए खड़े रहते थे, उधर से जो निकलता था उसे सलाम करते थे, कभी किसी से सवाल न करते थे।"

"समझ गई, वह शाह साहब उनके प्रेमियों में थे।"

"जी हां, क्या मैं नही जानता ?"

उमराव : अच्छा, तो आप वहीं रहते हैं !

मिर्जा : उनकी ही सेवा में हूं।

उमराव : और उनका क्या हाल है ?

रुसवा : वह एक हकीम साहब पर मरती है।

उमराव · कौन हकीम साहब ?

रुसवा : आप नहीं जानतीं। नाम भी बता दूंगा, तब भी आप न समझेंगी, फिर बताने से लाभ ?

उमराव · खैर, कुछ बता दीजिए, मैं समझ जाऊंगी।

रुसवा : वह नखास……

उमराव : खूब जानती हूं। यही अमीरजान उन दिनों ऐसी थी कि लोग उन्हें एक नजर देखने को तरसते थे। गर्व इतना था कि ऐसे-वैसों की तो बात ही क्या, अच्छे-अच्छों की प्रार्थना स्वीकार न होती थी। ठाठ भी ऐसे कि दो-दो मेहरियां साथ ! एक हुक्का लिए है, एक के हाथ में पंखा है, एक लुटिया लिए है, एक के पास पानदान है। सेवक वर्दियां पहने सवारी के साथ दौड़े चलते थे !

अमीरजान गौहर मिर्जा के गाने पर लट्टू थी। खुद गाना-वाना जानती न थी, मगर गाना सुनने का बड़ा शौक था। गौहर मिर्जा बचपने ही से वेश्याओं का खिलौना था। हरेक उस पर फिदा थी। उसकी सूरत-शक्ल भी प्यार करने योग्य थी। रंग तो कुछ सांवला था, मगर नैन-नक्श गजब के थे, इस पर सुन्दर वेश-भूषा, चंचलता, शरारत ! कोई बात…

रुसवा : क्यों न हो, किस मां का बेटा था ?

उमराव : अहहा ! तो क्या आपने बन्नो को देखा था ?

रुसवा : (मुस्काते हुए) जी हां, आप यही अनुमान कर लीजिए।

उमराव : मिर्जा साहब, आपके शौक भी क्या दरपर्दा होते हैं !

रुसवा : खैर, आपने तो पर्दाफाश कर दिया।

उमराव : अच्छा, तो अब थोड़ी देर मजाक ही चले, मेरी कहानी को आग लगाइए।

रुसवा : हंसी-मजाक के लिए रात-भर पड़ी है। आप अपनी कहानी कहिए।

उमराव : देखिए, दूसरी बार भी आपकी बात ही रही। अच्छा, सुनिए : सुबह से दस-ग्यारह बजे तक तो मौलवी साहब के पास से किसकी मजाल थी कि दम-भर के लिए भी कहीं खिसक जाता ! उसके बाद मौलवी

खाना खाने जाते थे। तब हमें अवकाश मिलता था। फिर कोई एक कमरा होता था और हम। आज अमीरजान के पास, कल जाफरी के कमरे में, परसों बब्बन के यहां। फिर जहां जाते, खूब खातिर होती। मेवा, मिठाइयां, हुक्का, पान !

रुसवा : आप बचपन ही से हुक्का पीती हैं ?

उमराव : जी हां ! गौहर मिर्जा की देखा-देखी मुझे भी इच्छा हुई थी, पहले शौकिया पीती थी, फिर तो निगोड़ी लत हो गई।

रुसवा : गौहर मिर्जा साहब तो चंडू भी पीते थे। आश्चर्य नहीं यदि आपने इसमें भी उनकी देखा-देखी इच्छा की हो !

उमराव : खुदा ने आज तक तो उससे बचाया। मगर हां, अफीम की कसम नहीं खाती। वह भी अब शुरू की है। कर्बला-ए-मुअल्ला से आने के बाद नजले का जोर हुआ, आये दिन जुकाम रहता था। हकीम साहब ने कहा—अफीम खाओ। खाने लगी।

रुसवा . और वह चीज नजले को रोकने वाली ?

उमराव : अब उसका जिक्र न कीजिए।

रुसवा : क्या छोड़ दी ?

उमराव : मुद्दत हुई।

रुसवा : वाकई, कम्बख्त क्या बुरी चीज है ! अपना तो यह हाल है—

बाद तोबा के भी है दिल में यह हसरत बाकी,
देके कसमें कोई इक जाम- पिलादे हमको।

उमराव : हाय ! क्या शेर कहा है, मिर्जा साहब ! कसमें दिलाने को तो मैं मौजूद हू, पीना-न-पीना तुम्हारे अख्तियार।

रुसवा : आप भी साथ दीजिएगा ?

उमराव : तोबा !

रुसवा : तोबा ?

अब्र भी है हवाये-सर्द भी है,
फिर वह यादश बखैर याद भी है।

उमराव : बस अब तबीयत को रोकिए। जमाइयां आने लगीं, लिल्ला, इस जिक्र को जाने दीजिए।

रुसवा : जाने दीजिए।

उमराव : मज़ाक से भी माफ फरमाइए—

अब न हम मुंह लगायेंगे उसको,याद आई तो ग़ैर याद आई।

रुसवा : वल्लाह ! उमराव जान, क्या शेअर कहा है !

उमराव : तसलीम—

देखकर मुशहदे-अबा उनको,
लाला-ओ-गुल की सैर याद आई।

रुसवा : खुदा खैर करे, तबीयत जोरों पर है। क्यों न हो, बीते यौवन की याद का असर है !

उमराव : जी नहीं, शराब के जिक्र का असर है—

जाहिदो, हमको आज फिर वह शै,जिससे है तुमको बैर, याद आई।

रुसवा : अहा ! क्या काफिया निकाला है और कहा भी खूब है !

काबा से फिर के हम हुए गुमराह,
फिर वही राहे-दैर याद आई।

उमराव : ऐ क्या कहना ! यह 'काबा से फिरके' क्या खूब कहा है, मिर्ज़ा साहब, इसे मतला न कर दीजिए—

फिर के काबा से सैर याद आई,
फिर वही राहे-दैर याद आई !

रुसवा : खूब !

उमराव : रविशे-वहश-ओ-तैर याद आई,
वक्ते-वहशत की सैर याद आई।

रुसवा : यह मतला भी बुरा नहीं।

उमराव : यह शेअर सुनिए—

हमको विनत-उल-अनब से शिकवा है,
क्यों हमें उस बगैर याद आई।

रुसवा : मैं तो कहता हूं, तबीअत आज जोर मार रही है, अच्छा यह शेअर सुन लीजिए, फिर अपना किस्सा दोहराना शुरू कीजिए—

हवा भी, अब्र भी, गुलजार भी, शराब भी हो,
यह सब भी हो, मगर अगला-सा वह शबाब भी हो !

उमराव : वाह ! मिर्जा साहब, आपने तो दिल को मुर्दा कर दिया ! खैर मतलब की बात पर आती हूं। इस तरह से कई बरस मेरी जिन्दगी के खानम के यहां गुजरे। इस बीच कोई बात ऐसी नहीं हुई जिसे बताना जरूरी हो। हां, एक याद आया। बिस्मिल्ला की मिस्सी बड़ी धूम से हुई। मेरी आंखों के देखते शाही समय के बाद अब तक ऐसी मिस्सी नही हुई। दिलाराम की बारहदरी इस उत्सव के लिए सजाई गई थी। अन्दर से बाहर तक रोशनी थी। शहर की सभी वेश्याएं, डूम, ढाढ़ी, कश्मीरी भांड सब तो थे ही, दूर-दूर से वेश्याएं बुलाई गई थीं। बड़े बड़े नामी गवैये दिल्ली तक से आए थे। सात दिन-रात गाने-बजाने की सोहबत रही। खानम ने जैसा दिल खोलकर पैसा खर्च किया था, उसका आज तक चर्चा है।

बिस्मिल्ला खानम की इकलौती लड़की थी—जो कुछ न होता, कम था। नवाब छब्बन साहब ने अपनी दादी ख़ाक़ान बेगम से विरासत में बहुत कुछ पाया था। बहुत ही कम आयु का नवाबजादा था छब्बन। खानम ने न जाने किन तरकीबों से जाल फैलाया था, बेचारे फंस ही गए। नवाब छब्बन के कोई पचीस-तीस हजार रुपये इस जलसे में खर्च हो गए। इसके बाद बिस्मिल्ला नवाब की सेवा में रहने लगी।

मिर्जा साहब, आप जो बातें मुझसे पूछते हैं, उनका मेरी जबान से निकलना बहुत कठिन है। यह सच है कि वेश्याएं बहुत मुंहफट होती हैं। पर उसका भी एक खास समय होता है, आयु का तकाजा भी कोई चीज है ! जवानी के जोश में जो बातें हद से गुजर जाती हैं, आयु ढलने पर उनमें कमी जरूर होनी चाहिए ताकि बीचबचाव बना रहे। आखिर वेश्याएं नारी-जाति ही हैं ! इन बातों को पूछने से आपको क्या लाभ ?

रुसवा : कुछ तो लाभ होगा जो मैं आग्रह से पूछता हूं। अगर आप पढ़ी-लिखी न होती तो आपका संकोच समझ में आ सकता था। पढ़े-लिखों को ऐसी व्यर्थ की लाज नही चाहिए।

उमराव : ऊई ! क्या पढ़ने से आंखों का पानी ढल जाता है ? यह आपने खूब कही !

रुसवा : अच्छा-अच्छा तो कहिये। फिजूल बातों से मेरा समय नष्ट न कीजिए।

उमराव : कहीं किसी अखबार में न छपवा दीजिएगा !

रुसवा . और आप क्या समझती हैं ?

उमराव : हाय ! तौबा ! मुझे भी आप अपनी तरह रुसवा करेंगे।

रुसवा : खैर, अगर आप मेरे साथ रुसवा होंगी तो कोई डर नहीं—

रुसवा से क्यों मिले हो मुहब्बत जता के तुम।
छोड़ूंगा अब न मै तुम्हें रुसवा किये बगैर॥

उमराव : आपसे मुहब्बत करके कौन रोये !

जाहिद से गुफ्तगू हो कि नासेह से बहस हो।
बनती नहीं है जिक्र किसी का किये बगैर॥

रुसवा : यह किसका शेअर है ?

उमराव : यह आप मुझसे क्यों पूछा करते हैं ?

रुसवा : हां समझा ! तो यह गजल आपने भी सुनी है ?

उमराव : जाते हैं जान बेच के बाजारे इश्क में।
हम आयेंगे न इश्क का सौदा किये बगैर॥

रुसवा : और वह शेअर याद है ? तकाजा किये बगैर !

उमराव : वायदा हो या कौल वो ऐसे है नाबहंद,
मिलता नहीं कुछ उनसे तकाजा किये बगैर।

रुसवा : और कोई शेअर याद है ?

उमराव : और तो याद नहीं आता।

रुसवा : यह तो बहुत बड़ी गजल थी। देखना कहीं नकल पड़ी हो तो मुझे दिखाना।

उमराव : उन्हीं से न मंगवा लो।

रुसवा : खुद जाके लिख लाऊं तो संभव है, वह तो हरगिज न लिखेंगे।

उमराव : यह भी कोई बात है !

रुसवा : जी हां, आपको नहीं मालूम, मसौदे के सिवा गजल साफ करने तक की कसम है।

उमराव : अच्छा एक दिन हम और आप दोनों चलें। हां, एक और शेर याद आया—

हरचंद इसमें आप ही बदनाम क्यों न हो
याद आयेंगे न वो मेरा चर्चा किये बगैर !
गैरों को है सितम के तकाजे का हौसला
छोड़ेंगे ये न इश्क को रुसवा किये बगैर ।

रुसवा : मेरी भी गजल इसी तुक में थी, मगर खुदा जाने क्या हुई, केवल मकता याद रह गया ।

उमराव : मकता फिर सुनाइए । क्या खूब कहा है !

रुसवा : सुनिए, 'रुसवा से क्योंमिले हो...

उमराव : वाकई खूब कहा है । मगर इसमें आपके उपनाम ने खास मज़ा पैदा कर दिया है !

रुसवा : उपनाम का जिक्र न कीजिए । एक कृपालु की कृपा से अब शहर में कई रुसवा मौजूद हैं । लोग यों ही अपने अच्छे-खासे उपनाम छोड़कर 'रुसवा' हुए जाते हैं । वह तो कहिये कि मेरा नाम नहीं जानते, नहीं तो क्या आश्चर्य कि लोग अपने नाम भी बदल डालें ! मगर मैं तो खुश हूं—इसलिए कि रिवाज है बाप-बेटों का नाम एक ही होता है । ये सब मेरे मानस-पुत्र हैं, जितनी अधिक नस्ल बढ़ेगी,उतना ही मेरा नाम रौशन होगा । लें, अब टालिए नहीं, जो कुछ पूछा है, वह कहना ही पड़ेगा ।

उमराव : क्या जबरदस्ती है ! क्या निर्लज्जता की बातें आप पूछते हैं !

रुसवा : ब्याह-बारातों में गालियां गाने से ज्यादा बेशर्मी नहीं होती !

उमराव : आपके लखनऊ में तो वेश्याएं गाली नहीं गातीं । डूमनियां अलबत्ता गाती हैं । वह भी औरतों में । देहात की वेश्याओं को जरूर मरदों में गालियां गानी पड़ती हैं । वाकई मिर्जा साहब, शहर हो या देहात, यह रस्म तो कुछ अच्छी नहीं ।

रुसवा : आपके कहने से अच्छी नहीं है, हमने इन आंखों से देखा है, और कानों से सुना है—अच्छे-अच्छे शरीफ मरद औरतों में घुसकर गालियां सुनने का मजा लेते हैं । मां-बहनें रगड़ी जा रही हैं और ये खुश हैं ! बाछें खिली जा रही हैं ! काश ! खुदा यह दिन न दिखाता ! इसके अलावा बरात की रात-भर से सुबह तक की जो बेहूदगियां कुल-वधुओं में चलती हैं—उसका जिक्र भी क्या ! खैर, इन बातों को रहने दीजिए । हम कोई समाज-सुधारक नहीं जो इन बा

की निंदा करूँ।

उमराव : आप नहीं मानेंगे, लो सुनो—

जब मैं बिस्मिल्ला की मिस्सी हुई, खुर्शीद जान और अमीर जान के रंग-ढंग देखे, तभी से मेरे दिल में एक खास किस्म की उमंग पैदा हुई। मैंने देखा कि एक खास रस्म(जिससे मैं बिल्कुल अनभिज्ञ थी) के बाद बिस्मिल्ला से बिस्मिल्ला जान और खुर्शीद से खुर्शीद जान हो गईं। निर्लज्जता की सनद ही जैसे मिल गई! आजादी का इनाम मिल गया! अब ये मुझसे अलग हो गईं। मैं इनकी नजरों में छोटी हो गई थी। वे मरदों के साथ बिना संकोच-लज्जा के हंसी-मजाक करने लगी थीं। उनके कमरे अलग-अलग सजा दिये गए थे—नवार के पलंग डोरियों से कसे हुए थे। फर्श पर साफ-सुथरी सफेद चांदनियां बिछी हुई, बड़े-बड़े बेलबूटों वाले पानदान, शृंगारदान, पीकदान बड़े ढंग से रखे हुए, दीवारों पर जड़े शीशे, सुन्दर-सुन्दर चित्र, छत में छतगीरियां, झाड़-फानूस। शाम होते ही दो कमल-दीप जगमगा उठते थे। दो-दो महरियां, दो-दो सेवक हाथ बांधे खड़े हैं। सुन्दर युवक, रईसजादे हर समय दिल बहलाने को उपस्थित! नार्दा की हुक्की मुंह से लगी हुई है, सामने खुला पानदान। एक-एक को पान लगाकर दिये जा रहे हैं, चुहलें हो रही हैं। उठती हैं तो लोग बिस्मिल्ला कहते हैं, चलती हैं तो लोग आंखें बिछाते हैं। ये हैं कि किसी की परवाह नहीं करतीं, जो है सो उन्हीं की आज्ञा का पालन करता है। हुकूमत ऐसी कि जमीन-आसमान टल जाए मगर इनका कहना न टले। फरमाइशों की तो बात ही क्या,बिन मांगे ही लोग अपना कलेजा निकाल कर देने को तैयार! कोई दिल हथेली पर रखे हैं, कोई जान निछावर कर रहा है। पर यहां किसी की नजर कबूल ही नहीं होती! कोई बात खातिर में आती ही नहीं, बेपरवाही यह कि कोई जान भी दे दे तो इन्हें कोई गम नहीं। गर्व ऐसा कि सातों जहान की सल्तनत ठुकरा दे। नाज़ वह जो किसी से उठाया न जाये। मगर उठाने वाले उठाते हैं। अन्दाज वह कि मार ही डाले। मगर मरने वाले मर ही जाते हैं। इधर उसको रुलाया, उधर उसे हंसाया। किसी के कलेजे में चुटकी ले ली, किसी का दिल तलुओं से मसल डाला। बात-बात में रूठी जाती हैं, लोग मना रहे हैं। कोई हाथ जोड़ रहा है, कोई मिन्नत कर रहा है। वायदा किया और फिर गई। कसम खाई और भूल गई। महफिल-भर की निगाह उन पर है, यह आंख उठाकर भी नहीं देखती। फिर जिधर देख लिया, उधर सब देखने लगे।

जिस पर उनकी नज़र पड़ती है, उस पर हजारो निगाहें पड़ती हैं। ईर्ष्या से लोग जले जाते हैं, और यह जान-बूझकर जला रही हैं। और मजा यह कि दिल मे कुछ नहीं। वह भी तुच्छ यह भी तुच्छ! है केवल बनावट। अगर वह बेचारा धोखे में आ गया, फिर क्या था, पहले खुद उस पर मरने लगी—

आजकल उनको बहुत है मेरी खातिर मंजूर
या मेरी या मेरे दुश्मन की कज़ा आई है।

मरें उनके दुश्मन, आखिर उसी को मार डाला? अब जाके कलेजे मे ठंडक पड़ी। उस गरीब के घर मे रोना-पीटना पड़ा है यह बैठी यारो के साथ ठाके लगा रही हैं!

मिर्जा साहब, इन बातों को आप मुझ से ज्यादा जानते हैं और बता सकते हैं। मगर यह करिश्मा देख-देखकर जो कुछ मेरे दिल पर गुजरती है, उसको मैं खूब जानती हू। नारी को नारी से जो जलन होती है, उसकी कोई हद नही। सच तो यहहै, यद्यपि मुझे कहते शर्म आती है,मेरा दिल चाहता था कि सबके चाहने वाले मुझे ही चाहें, और सबके मरने वाले मुझी पर मरें। न किसी और की तरफ आ उठाकर देखें, न किसी पर जान दें। मगर मेरी ओर कोई आंख उठाकर भी देखता था। बुआ हुसैनी की कोठरी जो दर-ओ-दीवार से छत तक धुएं से काले पड़ गई थी, उसके एक तरफ छलंगा पलंग पड़ा हुआ था। उस पर मैं और बुआ हुसैनी रात को पड़े रहते थे। दूसरी तरफ कोठरी मे चूल्हा बना हुआ था। उसके पास दो घडे रखे थे। यही दो बदकलई पतीलियां, लगन, तवा, प्लेटें-प्याले इधर उधर पड़े रहते थे। एक कोने में आटे की मटकी थी, हांडियों मे उसके ऊपर दो-तीन दालें, नमक-मसाला था, पास ही जलाने की लकड़ियां, उपले, मसाला पीसने की सिलवट्टा—सारांश यह कि तमाम किरकरीखाना यही था। चूल्हे के ऊपर दो कीलें लगी थी। खाना पकाते समय उस पर दीया रख दिया जाता था। एक चिकटा हुआ छोटा-सा दीवट पलंग के पास धरा रहता था। खाना पकाने के बाद वही दीया उस पर रख दिया जाता था। चिराग मे पतली-सी बत्ती रहती थी, मुआ अंधा-अंधा (मंद-मंद) जलता था—लाख बत्ती उकसाओ, लौ ऊँची नहीं होती थी! इस कोठरी की सजावट मे दो छीके भी शामिल थे। इनमें से एक मे प्याज रहती थी, दूसरे में सालन-दाल की पतीली। चपातियां मौलवी साहब के वास्ते ढांप कर रख दी जाती थी। प्याज वाला छींका तो चूल्हे के पास था, यह

दूसरा मेरे सीने पर धरा रहता था। मगर अचानक पतंग पर चढ़ी हुई तो सालन की पतीली खट से सिर मे लगी! सुबह से ग्यारह बजे तक मौलवी साहब की घुड़िया और शाम से नौ बजे तक उस्ताद की झिड़कियां और गजों की मार—यही था हमारा लाड-प्यार। मगर मैं अपनी करतूतों से बाज न आती थी। पहले-पहल तो मुझे शीशा देखने का शौक हुआ। अब मैं चौदह साल की हो गई थी। इधर बुआ हुसैनी कोठरी से इधर-उधर हुई, उधर मैंने उनकी पिटारी से शीशा निकाला! अपनी सूरत देखने लगी। अपने नैन-नक्श को और वेश्याओं से तुलना करती। मुझे अपने चेहरे में कोई खराबी नजर न आती, बल्कि औरों से अपने को अच्छा समझती थी, हालांकि यह सचाई न थी।

रुसवा : तो क्या आपकी सूरत किसी से बुरी थी? अब भी सैकड़ों से अच्छी हो, उस समय तो और भी जोबन होगा।

उमराव : खैर, अब इस तारीफ को रहने दीजिए, बिल्कुल व्यर्थ और बे-मौका है। माफ कीजिएगा! मगर उस समय मेरा यही ख्याल था और यह ख्याल मेरी जान के लिए आफत था। मैं दिल ही दिल कहती, हाय! मुझमे क्या बुराई है जो मेरी तरफ कोई देखता तक नहीं!

रुसवा : यह तो संभव नहीं कि कोई आपकी ओर आकृष्ट न हो, निगाहें जरूर पड़ती होंगी। मगर बात यह है कि आपकी मिस्सी नहीं हुई थी, खानम से लोग डरते थे, इसलिए आपसे कोई बोलता न होगा।

उमराव : शायद यही हो, मगर मुझे इतनी तमीज कहां थी! मेरा तो यह हाल था "टोलती अपने तेहे मैं आप खोलती।" अपनी हमजोलियों को देखकर फुंकी जाती थी—खाना-पीना हराम था, रातों की नींद उड़ गई थी!

उन दिनों बालों को कंघी करते समय और दुःख होता था—इसलिए कि कोई चोटी गूंथने वाला न था। जब बिस्मिल्लाकी चोटी नवाब छब्बन साहब अपने हाथ से गूथते थे तो मेरे सीने पर सांप लोट जाता था। यहां कौन था?—वही बुआ हुसैनी। वह भी जब उन्हें फुर्सत होती थी! नहीं तो दिन-दिन भर बाल खुले हैं —सिर झाड़, मुंह फाड़ फिर रही हूं। आखिर मैंने अपने हाथ से चोटी करना सीखा। और सब वेश्याएं तो दिन में तीन-तीन जोड़े बदलती थीं, यहां वही आठवें दिन। पोशाक भी भारी न थी। वे जरीदार बेलबूटे के जोड़े बदलती थीं, यहां वही रेशमी पायजामा, मलमल का दुपट्टा, बड़ी-बड़ाई लचके की तीली दे दी गई।

इस पर भी कपड़े बदलकर मेरा जी चाहता था कि मरदों में जाकर बैठूं। कभी बिस्मिल्ला के कमरे में चली जाती थी, कभी अमीर जान के पास। मगर जहां जाती थी, किसी-न-किसी बहाने से उठा दी जाती थी। उन लोगों को मेरा बैठना गवारा न था। सबको अपने आनन्द-मौज का ख्याल था, मुझे कौन बैठने देता ! और न बैठने देने का एक और भी कारण था कि उन दिनों मेरी तबीअत में कुछ शरारत समाई हुई थी। जहां बैठी, किसी को ठींगा दिखा दिया, किसी का मुंह चिढा दिया, किसी की चुटकी ले ली। हर तरह मरदों से लगावट करना चाहती थी। इसी कारण लोगों को मेरा बैठना खटकता था।

मिर्जा साहब, आप समझ सकते हैं कि गौहर मिर्जा ऐसे समय और इस हालत में कितना गनीमत मालूम हो सकता था। इसलिए कि वह मुझसे प्यार की बातें करता था। मैं उसे छेड़ती थी, वह मुझे छेड़ता था। मैं उसे अपना चाहने वाला समझती थी और वह भी उन दिनों मुझे चाहता था। जब सुबह स्कूल में आता, तो कभी दो नारंगियां जब में लेकर आता और चुपके से मुझे दे देता, किसी दिन सोहन हलवा की टिकिया ले आता और मुझे खिलाता। एक दिन न मालूम कहां से एक रुपया ले आया। वह भी मेरे हवाले कर दिया। हजारों रुपये जिंदगी में मेरे हाथ लगे होंगे, पर इस एक रुपये के पाने की खुशी कभी न भूलूंगी। इससे पहले मुझे पैसे तो बहुत मिले थे, पर एक रुपया कभी न मिला था। वह रुपया मैंने बहुत दिनों तक संभालकर रखा—इसलिए कि उसे खर्चने की मुझे कोई जरूरत ही न थी। और अगर थी भी तो यह ख्याल था कि यदि यह खर्च करती हूं तो लोग पूछेंगे कहां से मिला ? तो क्या बताऊंगी। भेद छिपाने की समझ मुझे भी आ गई थी और यह समझ बगैर समझदारी की आयु को पहुंचे नहीं आती। निस्सदेह मैं इस आयु को पहुंच गई थी।

५

एक शातिर¹ चोर दिल मेरा चुराकर ले गया,
पासबां² कमबख्त सब सोते के सोते रह गए।

---

१. चालाक २. रखवाले

बरसात के दिन हैं, घटा आसमान पर छाई हुई है। पानी धारधार बरस रहा है। बिजली चमक रही है। बादल गरज रहा है। मैं बुआ हुसैनी की कोठरी में अकेली पड़ी हूं। बुआ हुसैनी खानम के साथ हैदरी के घर पर गई हुई हैं। दीपक बुझ गया है और अंधेरा इतना कि हाथ को हाथ नहीं सूझता।

अन्य कमरों में जशन हो रहे हैं—कहीं से गाने की आवाज आ रही है, कहीं ठाके लग रहे हैं। एक मैं हूं कि इस अंधेरी कोठरी में अकेली करवटें बदल रही हूं। कोई आसपास नहीं है। दिल पर जो गुजर रही है, दिल ही जानता है। जब बिजली चमकती है तो मारे डर के रजाई में मुंह ढांप लेती हूं। जब गरज की आवाज आती है, कानों में उंगलियां दे लेती हूं। इसी हालत में आंख लग गई। इतने में यह महसूस हुआ कि किसी ने जोर से मेरा हाथ पकड़ लिया। मेरी घिग्घी बंध गई—मुंह से आवाज तक न निकली और आखिर मैं बेहोश हो गई।

सुबह को चोर की तलाश हुई, वह कहां से मिलता? खानम मुंह बनाये बैठी, बुआ हुसैनी बड़बड़ाती फिरीं। मैं [illegible] बनी रही। सब पूछ-पूछकर थक गए—मगर मुझे कुछ मालूम हो तो बताऊं!

रुसवा : यह नहीं कहतीं कि अगर मालूम भी होता तो क्यों बताऊं!

उमराव : खैर, अब हाशिये न चढ़ाइए, सुनते जाइए। खानम की उस दिन की मायूसी और बुआ हुसैनी का उदास चेहरा जब मुझे याद आता है तो बरबस हंसी आ जाती है।

रुसवा : क्यों न आए। उनकी तो नाकें खाक में मिल गईं और आपका मजाक हो गया!

उमराव : उनकी खाक में मिल गईं! खानम को आप नहीं जानतीं, बड़ी चालाक छटी हुई बेसवा थी। उस मौके को ऐसा दबाया कि जैसे कुछ हुआ ही न था! इसके बाद किसी आंख के अंधे और गांठ के पूरे की तलाश रही। आखिर एक चिड़िया फंस गई!

उन दिनों एक बड़े सरकारी हुक्काम के लड़के पढ़ने के लिए [illegible] हुए थे। घर के अच्छे थे। उनके स्वर्गीय पिता [illegible] के नवाबों के [illegible] बड़ा इलाका खरीदकर उनके लिए छोड़ गए थे। कुछ दिन तो [illegible] ठीक-ठाक रहे, पर फिर जो लखनऊ की हवा लगी, तो [illegible] निर्लज्जता की कथा में शामिल हो गए। नाम था [illegible]

रखते थे। लखनऊ के किसी उस्ताद ने मुरशद बना दिया। इस उपनाम पर उन्हें बड़ा गर्व था।

गांव से जो सेवक साथ लाये थे, वे सब रखवन मियां कहते थे। लखनऊ वालों ने उन्हें राजा की पदवी दी, मगर उस नाम और इस खिताब में उन्हें देहातीपन महसूस होता था। आप लखनऊ के रंग-ढंग पर मरते थे। इसलिए थोड़े ही दिनों में नवाब साहब बन गए। जब घर से आये थे तो अच्छी-खासी दाढ़ी मुंह पर थी, लखनऊ की हवा लगते ही पहले कतरवा हुई, फिर खशखासी और थोड़े दिनों में बिल्कुल सफाचट!

दाढ़ी मुंडने से छोटा-सा चेहरा बिल्कुल भद्दा निकल आया। मगर आप उसे खूबसूरती समझते थे। काला रंग, चेचक के दाग, भद्दी-सी नाक, छोटी-छोटी आंखें, गाल पिचके हुए, माथा तंग, छोटी गरदन, ठिगना-सा कद! गरज कि सब खूबियां जुट आई थीं! मगर आप अपने को मुन्दरता में दूसरा यूसुफ समझते थे! पहरों शीशा सामने रहता था। मूंछें इस कदर मरोड़ ली कि चूहिया की दुम-सी लगने लगीं। बाल बढ़ाये गए, घुंघराले बनाये गए। नोकदार टोपी सिर पर रखी गई। ऊंची चोली का अंगरखा डाटा, बड़े पायचों का पाजामा पहना—और यह सब ठाठ वेश्याओं के दरबार में हाज़िर होने के लिए किया गया!

एक तो स्वयं ही पहुंची हुई तबियत के मालिक थे, दूसरे योग्य संगी-साथी मिल गए—जल्दी ही ऊंचे कोठों पर रसाई हो गई। रसाई क्या, खूब घुल-मिल गए। छुट्टन जान से मां-बाप की गालियों का आदान-प्रदान होने लगा, बगन टोपें लगाती हैं, हुसना ने जूता खींच मारा—आप हैं कि 'ठी-ठी' हंस रहे हैं। यह सब था मगर नायिकाओं का बड़ा आदर करते थे। जिस वेश्या के यहां एक बार भी गये, उसकी नायिका को सरेआम अम्मां जान कहना और झुककर सलाम करना आदत हो गई थी। इससे एक बात यह सिद्ध होती थी कि यार-दोस्तों में यह जाहिर हो जाता था कि यहां आप पहुंचे हुए हैं।

सांझ से दो-तीन घड़ी रात गए तक खानम साहब के दरबार में उपस्थित रहते थे। उनको हर लड़की से मिलने-जुलने का नियाज़ हासिल था! संगीत में भी कमाल था। ठुमरियां खुद रचते थे, खुद ही धुनें बना के गाते थे और खुद भाव बताते जाते थे। और तो जो था सो था, तबला मुंह से अच्छा बजाते थे। यार भी खूब उल्लू बनाते थे। आपके शेअरों पर लोगों ने इतनी तारीफ की कि

थी। उसे अब कोई नही पूछता था। इसलिए गौहर मिर्ज़ा के खर्चे का ध्यान रखना मेरे जिम्मे था।

सब वेश्याओं का कायदा है कि एक-न-एक को अपना बनाए रखती हैं। ऐसे आदमी से बहुत फायदा रहता है। एक तो यह कि जब कोई और न हुआ तो उसी से दिल बहला लिया। सौदा-पत्ता मगाने की सुविधा रहती है। नौकर या किसी और से मगाओ तो कुछ-न-कुछ आप खा जायगा। अपना प्रेमी भले के लिए अच्छी-से-अच्छी चीज शहर भर मे ढूढकर लायगा। बीमारी की हालत मे ये हद से ज्यादा सेवा करते हैं। तरह-तरह के आराम देते हैं। रात-भर पाव दबाते हैं, सुबह दवा पिलाते हैं। हकीम साहब से हाल कहने जाते हैं। यार-दोस्तों मे तारीफें करते रहते हैं। मुर्गी फसाके लाते हैं। जहां शादी-ब्याह हुआ, वहां नाच-गाने का प्रबंध अपने जिम्मे लेकर मुजरे मे ले जाते हैं। महफिल मे बैठकर लोगों का ध्यान आकृष्ट कराते हैं। वह नाच रही हैं, ये ताल देते जाते हैं। हर सम पर 'आह' और हर ताल पर 'वाह' कहकर रग जमाते हैं। वह भाव बता रही हैं, ये व्याख्या करते जाते हैं। इन्ही की वजह से अच्छे-से-अच्छा खाने को मिलता है, खातिरदारी ज्यादा होती है, इनाम सवाया मिलता है। अगर किसी रईस-अमीर से मुलाकात हो गई तो इन्ही की वजह से मिलन का मजा बढ़ता है। उधर वह (रईस-अमीर) चाहते हैं कि वेश्या उन पर फिदा होने लगे, इधर वेश्या जान-बूझकर अपने साथी प्रेमी की दुहाई देती है : कभी कहती है—"साहब, मैं उनकी पाबद हूं, न मालूम आपसे कैसे मिलती हूं, अब उनके आने का समय है, मुझे जाने दीजिए। वह तो सदा हैं, आप इस तरह भला कब तक निभायेंगे?"

मुजरा-तमाशा देखने वाले लोग इनसे दबते रहते है। अगर किसी से कुछ तकरार हुई तो ये हिमायत को तैयार रहते हैं। शहर के बांके-टेढो से इनकी मुलाकात रहती है। बात की बात मे पचास-साठ आदमी इकट्ठे हो सकते हैं। तमाशबीन तो क्या खुद नायिका भी दबी रहती है, यह डर हर समय लगा रहता है कि वेश्या इनसे प्यार करती है, कही ऐसा न हो कोठा छोड़कर इनके घर जा बैठे।

अमीर जान काजम अली पर मरती थी। बरसों अपने पास से रुपया दिया। एक बार खुद पाच सौ के कड़े हाथों से उतारकर दे दिये और सुबह को शोर मचा [illegible] कि कोई उतार कर ले गया। एक दिन ग्यारह सौ रुपये की सच्चे मोतियों [illegible] की जोडी दे दी और कह दिया कि ऐश बाग के मेले मे कानों से गिर

६

यों तो मैं बिसमिल्ला की मिस्सी में पहले-पहल नाची-गाई थी, मगर मेरा पहला मुजरा नवाब शुजाअत अली खां के लड़के की शादी में हुआ था। वह महफिल भी यादगार थी। नवाब की बारहदरी किस शान से सजाई गई थी! अमूल्य शीशों केलैम्पों और हांडों से रात दिन में बदल गई थी। साफ-सुथरा फर्श, ईरानी कालीन बिछे हुए, गद्देदार मसनद और तकिये, सामने मृदगों की कतार रौशन! इतर और फूलों की खुशबू से तमाम बारहदरी महकी हुई थी। धुआंधार हुक्कों की खुशबू, पान की गलोरियों की महक से दिमाग तर हो जाता था! मैं कोई चौदह बरस की थी। उन दिनों बड़ौदा से एक बाई जी आई हुई थीं। सारे शहर मेंउनके गानोंकी धूमथी। बड़े-बड़ेगवैयेउनके आगे कान पकड़ते थे। संगीत-गायन-कला की जानकार ऐसी कि जैसे पोथियां जबान पर चढ़ी थीं। गला वह कि चार महले उधर आवाज जाय! मगर वाह! खानम साहब वाकई क्या रंग रखती थीं! उन बाई जी के बाद मुझे खड़ा कर दिया। मुझे तो क्या तमीज थी! मगर समझदार लोग हैरान थे कि खानम क्या करती हैं? भला बाई जी के सामने इस छोकरी का रंग जमेगा?

पहले गत शुरू हुई। इसमें महफिल कुछ मेरी ओर आकृष्ट हुई। मेरी भी उठती जवानी थी, सूरत अच्छी न थी, मगर उस समय फुर्ती-चुस्ती, चालाकी, अल्हड़पन—

कुछ न पूछो शबाब का आलम। क्या कहूं क्या अजब जमाना था॥

गत थोड़ी ही देर नाची थी कि खानम ने यह गजल शुरू करा दी—

आज इस बज्म में यह जलवा नुमा होता है,
देखिए देखिए इक आन में क्या होता है।

इस गजल के शुरू होते ही महफिल झूम उठी। इसके बाद दूसरा मतला जरा बयान करके जो गाया तो लोग लट्टू हो गये—

नाला रुकता है तो सरगमे-जफ़ा होता है
दर्द रुकता है तो बेदर्द ख़फ़ा होता है

और इस शेर ने तो कयामत ही ढाह दी—

फिर नजर झपती है और आँख झुकी जाती है,
देखिए देखिए फिर तीर खता होता है।

इस शेर का यह हाल था कि जिससे नजर मिलाकर गाया, नजर न उठा सका—

बुत-परस्ती में न होगा कोई मुझसा बदनाम
झेंपता हूँ जो कहीं जिक्रे खुदा होता है

जरा इस शेर को सुनिये और अनुमान लगाइये कि प्रेमीजनों पर इसका क्या असर हुआ होगा—

इश्क में हसरते-दिल का तो निकलना कैसा
दम निकलने में भी कमबख्त मजा होता है

फिर इसके बाद यह शेर पढ़ा—

हाले दिल उनसे न कहना था, हमीं चूक गए
अब कोई बात बनायें भी तो क्या होता है

सारी महफिल पर जादू-सा छाया था। हर व्यक्ति आनंद-रस में डूबा था। एक-एक शब्द पर 'वाह !', हर सम पर 'अहा !' होती थी। एक-एक शेर आठ-आठ, दस-दस बार गवाया गया, फिर भी तृप्ति नहीं होती थी। इसी गजल पर मेरा मुजरा खत्म हुआ। दूसरे मुजरे मे फिर यही गवाई गई।

मिर्जा रुसवा—खैर, वह महफिल का जो हाल हुआ हो, परमात्मा के वास्ते इस गजल के और जितने शेर याद हों, सुना दीजिये। यह किसकी गजल है ?

उमराव—उई ! क्या आप नहीं जानते ?

रुसवा—मैं समझा !

उमराव—और शेर सुनिये—

तालबे-गोर पहुंच जाते हैं मरने वाले
वह भी उस वक्त कि जब शौकं रसा होता है

रुसवा—सुभानअल्लाह !

उमराव—वाक़ई कलम तोड़ दिया है—'

आह में कुछ भी असर हो तो शररबार कहूँ
वरना शोला भी हकीकत में हवा होता है

रुसवा—यह दर्शन है, इसे वही खूब समझते हैं।

उमराव—और सुनिये—

किस कदर मोतकदे-हुस्ने मकाफात हूँ मैं
दिल में खुश होता हूँ जब रंज सवा होता है।

रुसवा—यह भी दर्शन है, इसे वही खूब समझते हैं।

उमराव—और सुनिये—

शौके-इज़हार अगर है तो मेरे दिल को न तोड़
इसी आइने में तू जलवानुमा होता है।

रुसवा—यह तसव्वुफ है। हम दुनियादार हैं, हमे इससे कुछ गरज़ नहीं, मगर 'शौके-इज़हार' यह लफ्फाज़ी क्योंकर मिल जाया करती है ?

उमराव—मकता सुनिये—

हिज्र में नाला-ओ-फरियाद से बाज़ आ
ऐसी बातों से वो बेदर्द ख़फ़ा होता है।

रुसवा—मतला से मकता निकाला है। मकता कहने की फुर्सत न मिली होगी !

उमराव—फुर्सत उन्हे कब मिलती है !

पहले मुजरे के दूसरे दिन बुआ हुसैनी मेरे कमरे मे आई। एक सेवक उनके साथ था।

बुआ हुसैनी—"देखो, उमराव साहब, यह क्या कहता है ?" इतना कहकर बुआ हुसैनी कमरे के बाहर चली गई।

सेवक—(सलाम करके) मुझे नवाब सुल्तान साहब ने भेजा है, जो कल रात को महफिल में ज़री की पीली पगड़ी सर पर रखे दुल्हा के दायें बैठे थे और फरमाया है कि मैं किसी समय आपके पास आना चाहता हूं बशर्ते कि जिस समय मैं आऊं, उस समय कोई और न हो ! और उस गज़ल की नकल मांगी है जो कल आपने गाई थी।

मैं—नवाब साहब से मेरी तस्लीम कहना और कहना कि शाम को जब चाहें तशरीफ लायें, एकांत हो जायगा। गज़ल के लिये कल दिन को किसी समय आना, लिख दूंगी।

दूसरे दिन फिर दिन चढ़े यह सेवक आया। मैं कमरे में अकेली बैठी थी।

गजल की नकल मैने कर रखी थी—उसके हवाले की। उसने पाच अशरफियां कमर से निकालकर मुझे दी और कहा—"नवाब साहब ने कहा है कि आपके लायक तो नही, मगर खैर, पान खाने के लिये मेरी तरफ से कबूल कीजिए। आज रात को चिराग जलने के बाद मैं जरूर आऊगा।" खिदमतगार सलाम करके चला गया। उसके जाने के बाद पहले तो मुझे ख्याल हुआ कि बुआ हुसैनी को बुलाकर ये अशरफिया दे दू, वह खानम के हवाले करे। फिर एक बार अशरफियों की तरफ जो देखा, चमकती-चमकती, नई टकसाली अशरफियां, भला मेरे दिल से कब निकलती थी! उस समय बक्सा-बक्सा मेरे पास न था, पलग के पाये के नीचे दबा दी।

७

मिर्जा रुसवा साहब, मैं समझती हू कि हर नारी के जीवन में एक समय वह आता है जब वह चाहती है कि कोई उससे प्यार करे। यह न समझियेगा कि यह इच्छा चट रोज की होती है, बल्कि जवानी के आरम्भ से ही तलब हो जाती है, और आयु के साथ यह बढ़ती जाती है। जैसे-जैसे आयु बढ़ती जाती है, यह इच्छा भी बढ़ती रहती है।

गौहर मिर्जा निस्सदेह मेरा चाहने वाला था, मगर उसकी चाहत और ही तरह की थी। उसमे एक बात की कमी थी, जिसे मेरा दिल ढूंढता था। मरदाना हिम्मत का उसकी तबीयत मे लगाव न था। मा का दूमनीपना उसके सस्कार में समा था। वह जो कुछ देखता मुझसे छीन-झपटकर ले लेता था। खुद एक रुपये के सिवा जिसका जिक्र मैं कर चुकी हूँ, कभी कुछ न दिया। अब मेरा दिल ऐसा आशिक ढूंढता था जो मेरे नाज-नखरे उठाए, रुपया खर्चे, खिलाये-पिलाये! नवाब सुल्तान साहब सूरत-शक्ल के अच्छे थे। उनके मुख पर ऐसा तेज था जिस पर औरत हजार दिल से फिदा हो जाती थी। कुछ लोग गलती से यह ख्याल करते है कि औरत को केवल खुशामद और प्रेम पसन्द है, बेशक पसन्द है, मगर शर्त है कि इसमे जरा भी कमीनापन न हो। जो लोग वेश्याओ के गहनो पर ताक

लगाये आते हैं, जिनकी हर बात से यह मतलब निकलता है कि हमें चाहो, खुदा के लिएसिर्फ हमें चाहो, हमारे घर ठ बैजाओ, जो कुछ तुम्हारे पास है, हमें दे दो, हमारे घर की देख-भाल करो, रोटियाँ पका-पका कर खिलाओ, हमारी और हमारे बाल-बच्चों की जूतियाँ सीधी करो—हर मरद का हुस्न यूसुफ का कमाल नहीं है कि हर औरत उस पर जान देने लगे। नर नारी से और नारी नर से प्यार करती है। मगर इस प्यार में अक्सर व्यक्तिगत स्वार्थ का लिहाज भी रहता है। निःस्वार्थ प्रेम जैसे लैला-मजनूं, शीरी-फरहाद ये केवल किस्से-कहानियों में सुनने की चीज है। लोग कहते हैं इकतरफा मुहब्बत नहीं होती, हमने इसे भी आँखों से देखा है, मगर इसको बुद्धि का कोरापन समझना चाहिए। अगर इकतरफा मुहब्बत से काम चल जाय, तो फिर क्या जरूरत है कि मरद और औरत दोनों प्रेम में दीवाने हों।

दूसरे दिन रात को नवाब साहबतशरीफ लाए। बुआ हुसनी से मामूली बात-चीत से तय होने के बाद कमरे में एकान्त हो गया। मालूम हुआ कि नवाब साहब ने सेवा में नियुक्त नहीं रखा है। केवल यह तय हुआ है कि कभी-कभी रात को घड़ी-दो-घड़ी के लिए आया करेंगे। नवाब साहब बहुत ही कम बोलने वाले भोले-भाले आदमी थे। उम्र १८–१६ साल की थी। धार्मिक वातावरण में पले थे, मां-बाप के दबाव में थे। दुनिया के छल-कपट से आगाह न थे। अपने प्यार को उन्होंने सेवक द्वारा पहले ही जता दिया था, वरना शायद नवाब साहब को इसमें भी इस पहली मुलाकात में मुश्किल होती। मगर मैंने थोड़ी देर में ही उनका संकोच दूर करदिया। बहुत-सी प्यार कीबातें की,बिल्कुल प्रेम-दीवानी बन गई। इसमें कुछ सच था, कुछ झूठ। सच तो इसलिए कि नवाब साहब की सूरत ऐसी न थी कि एक औरत चाहे वह कितनी ही कठोर क्यों न हो, उनसे प्रभावित न हो जाय—गोरी-गोरी रंगत जैसे गुलाब का फूल! लम्बी नुकीली नाक, पतले-पतले होंठ सुन्दर दांत, घुंघराले बाल, गोल-गोल चेहरा, ऊँचा माथा, बड़ी-बड़ी आंखें, भरे भरे बाजू—मछलियां पड़ी हुई। चौड़ी कलाइयां, लम्बा कसरती बदन! खुदा ने सर से पांव तक सारा बदन जैसे नूर के सांचे में ढाला था! इस पर भोली-भाली बातें। बात-बात पर प्यार-भरी शेर भी कहते थे, ज्यादा उन्हीं की अपनी रचनाएँ थीं, शेर पढ़ने में कमाल हासिल था। खानदानी शायर थे। मुशायरों में अपने पिता के साथ गजल पढ़ते थे।

चाहे कैसा ही इश्क-मुहब्बत का कलाम हो, शायरों को किसी के भी सामने पढ़ते हुए झेंप नहीं होती। छोटे बड़ों के सामने और बुजुर्ग छोटों के सामने चाहे और तरह की बात-चीत न कर सकते हों, पर शेर पढ़ने में संकोच नहीं होता। शेर भी ऐसे कि गद्य मे उनका अर्थ किया जाय तो मुह से कहते न बने। गरज कि उस रात बड़े मजे की संगत रही।

नवाब—आपकी अदाओं ने तो मुझे ऐसा मुग्ध किया है कि बगैर आपके देखे मुझे चैन ही नही आता।

मैं—यह सब आपकी कदरदानी है वरना मैं क्या और मेरी हकीकत क्या! फारसी की कहावत है—एक गुलाम को खुद अपनी औकात मालूम होनी चाहिए। मैं जानती हूं कि मैं क्या हूं।

नवाब—ओहो! आप तो पढ़ी-लिखी मालूम होती हैं।

मैं—जी हां, कुछ थोड़ा-बहुत पढ़ा तो है!

नवाब—और लिखना भी जानती हो?

मैं—जी हां, लिख भी लेती हूं।

नवाब—"तो वह ग़जल आपके हाथ की लिखी हुई थी?" मैं मुसकरा के चुप हो गई।

नवाब—वल्लाह! कितनी प्यारी लिखावट थी! इस बात से बहुत ही जी खुश हुआ। खिदमतगारों से दिल का हाल कहते नही बनता। अब कलम की जबान से ही बातें किया करेंगे। हम तो ऐसा चाहते ही थे, क्योंकि जहां तक हो सके ऐसी बात में दूसरे का दख़ल नही होना चाहिए—

न गैरों की वसातत हो न यारों की शमातत हो
जो हैं आपस की बातें राजदार उनके हमीं तुम हों।

मैं—यह आपका ही शेर है?

नवाब—जी नही, स्वर्गीय पिताजी ने फरमाया था।

मैं—क्या खूब फरमाया है!

नवाब—माशा अल्लाह! आपको शायरी में भी रुचि है!

अच्छी सूरत जो खुदा दे तो यह औसाफ भी दे
हुस्ने-तकरीर भी हो, खूबी-ए-तहरीर भी हो।

मैं—किसका शेर है?

नवाब—उन्ही का।

मैं—क्या खूब फरमाया है !

नवाब—जी हा, वह ऐसा ही फरमाते थे, मगर वल्लाह ! आपकी शान के लायक है।

मैं— यह फकत आपकी इनायत है,
वरना मैं क्या मेरी हकीकत क्या !

नवाब—वाह ! क्या साफ-साफ शेर है !

मैं—तसलीम !

नवाब— यह कहिए कि आप शेर भी कहती हैं !

मैं— जी नही, आप जैसे कदरदानों से कहलवा लेती हूँ।

इस पर पहले तो नवाब साहब जरा सोच में पड़े, फिर मुझे मुसकराते देखकर हस पड़े।

नवाब—खूब कही ! जी हा, अक्सर वेश्याओ का यह ढंग है कि यारों से कहलवा कर अपने नाम से पढा करती हैं।

मैं—आप वेश्याओ को ही ऐसा क्यो कहते हैं। क्या और लोग ऐसा नही करते ?

नवाब—वल्लाह ! सच है। पिता जी के दोस्तों में अक्सर ऐसे साहब है जिन्होंने कभी एक पक्ति भी नही कही, पर हर मुशायरे में गजल पढने को तैयार रहते थे। अक्सर वालिद ही कह दिया करते थे। कभी ऐसा होता था कि मेरी गजल में शेर ज्यादा हुए, छाट दिए। मैं कहता हूं कि इसमे मजा ही क्या है ? स्वर्गीय पिता जी फरमाया करते थे कि हमने हजरत उस्ताद के रचे शेर भी दीवान से निकाल डाले। झूठी तारीफो से दिल को क्या खुशी होती होगी ?

मैं—खुदा जाने ! यह भी एक लत है—बुरी लत !

नवाब—अच्छा तो इस ग़ज़ल का कोई और शेर याद है तो पढिये।

मैं—फर्ज है जब्ते नाला-ओ-फरियाद,
जिससे नाखुश हो तुमको आदत क्या ?

नवाब—क्या शेर पढा है ! फिर पढियेगा। वल्लाह ! क्या नई बात कही है !

मैं—(दोबारा शेर पढ़के) तसलीम ! आप कदरदानी करते हैं।

नवाब—शेर ही अच्छा है। और कोई शेर पढ़िए।

मैं—इस तुक-बंद में मेरी गज़ल नहीं है। यह दो शेर अभी कहे हैं।

नवाब—यह और खूब है! अच्छा और ऐसे ही शेर हो जायें। और किसी गज़ल को पढ़िए।

मैं—अब आप इरशाद कीजिए। इसीलिए मैंने पहल की थी।

नवाब—मैं पढ़े देता हूं। मगर आप को गज़ल पढ़नी होगी।

इतने में कमरे का दरवाज़ा धड़ाक से खुला और एक साहब पचास-पचपन बरस की उम्र के, स्याह रंग, बड़ी दाढ़ी, तिरछी पगड़ी बांधे, कमर कसी हुई, कटार लगी हुई, कमरे के अन्दर घुस आए और आते ही बिना किसी संकोच के मेरा घुटना दबाकर बैठ गए। नवाब साहब ने मेरी तरफ देखा, मैंने सर झुका लिया। काटो तो बदन में लहू नहीं! कहां तो नवाब साहब से यह इकरार था कि बिलकुल एकांत होगा, कमरे में कोई न होगा—और किस मज़े की बातचीत चल रही थी, क्या राज़ो-नयाज़ हो रहा था—कहां यह भयानक बला आ टपकी! पत्थर लगा और सख्त। हाय! क्या मज़े का संयोग था! इस कमबख्त ने कैसा मज़े में खलल डाल दिया? नवाब अभी गज़ल पढ़ने को थे, उसके बाद मैं कुछ कहती, नवाब प्रशंसा करते, क्या जी खुश होता! आज ही तो ऐसा एक क़दरदान मिला था, जिसे मुद्दत से मेरा दिल ढूंढ रहा था और आज ही इस आफत का सामना हुआ। खुदा इस मुए को जल्दी यहां से दफा करे! ये विचार मेरे दिल में थे और वह खूंखार सूरत आंखों के सामने थी जिसकी ओर देखने से मेरा दिल कांप जाता था। मुझे लगा कि यह मेरी जान के लिए दूसरा दिलावर खां आ गया। मुझे बार-बार डर लग रहा था कि कटार जो उसकी कमर में है, या तो मेरे कलेजे के पार होगी, या खुदा न करे, नवाब को कुछ हानि पहुंचायगी। दिल में ही कोसती रही—खुदा गारत करे, मुआ कहां से इस समय आ टपका! आखिर मुझ से और तो कुछ न बन पड़ा, बुआ हुसैनी को आवाज़ दी। उन्होंने आकर यह माजरा देखा, समझ गईं। बुआ हुसैनी की बातों से मालूम पड़ा कि वह इन साहब को कुछ-कुछ जानती थी।

बुआ हुसैनी—खां साहब! मुझे कुछ आप से अर्ज़ करना है। इधर तशरीफ़ लाइए।

खां साहब—जो कुछ कहना है, वहीं से कहो। हम लोग

उठते हैं ?

बुआ हुसैनी—तो खां साहब ! कोई जबरदस्ती है ?

खां साहब—इसमें जबरदस्ती क्या ? वेश्याओं के यहां किसी का एकाधिकार नहीं। और अगर जबरदस्ती समझो तो वही सही। हम तो नहीं उठने के। देखें तो हमें कौन उठाता है ?

बुआ हुसैनी—अधिकार क्यों नहीं। जो पैसा खर्चे, अधिकार उसी का है, फिर और कोई उस समय नहीं आ सकता।

खां साहब—तो पैसा खर्चने से हम कब पीछे हटे हैं ?

बुआ हुसैनी—अच्छा, इस समय इसका कोई मौका नहीं है, फिर किसी समय तशरीफ लाइएगा।

खां साहब—औरत कुछ बेवकूफ-सी है ! कह दिया, हम नहीं उठेंगे।

मैंने देखा कि नवाब का चेहरा मारे गुस्से के लाल हो गया। मगर अभी तक चुपके बैठे रहे, मुंह से कुछ भी न बोले।

बुआ हुसैनी—बेटी, अच्छा, तू ही उठके इधर चली आ। नवाब साहब, आपके आराम का समय है, कोठे पर तशरीफ ले जाइए।

मैंने उठने का इरादा किया तो उस निगोड़े ने जोर से मेरा हाथ पकड़ लिया। अब क्या करूं ?

नवाब—खां साहब, वेश्या का हाथ छोड़ दीजिए, इसी में खैरियत है। आप बहुत ज्यादतियां कर चुके हैं, मैं खामोश बैठा रहा, सिर्फ इस ख्याल से कि वेश्या के मकान पर झगड़ा करना अच्छा नहीं, मगर अब…

खां साहब—मगर अब तुम क्या कर सकते हो ? देखें तो कौन…हाथ छुड़ा लेता है ?

मैं—(जोर से हाथ झटककर) अच्छा, तो हाथ छोड़ दीजिए। मैं कहीं जाती नहीं (वाकई मैं नवाब को छोड़कर हरगिज न जाती)। खां साहब ने हाथ छोड़ दिया।

नवाब—मैं कहे देता हूं कि जरा जबान संभाल के बात कीजिए। मालूम होता है कि आपने शरीफों की संगति नहीं की :

खां साहब—खैर, तुमने तो की है ! जो कुछ हो सके कर लो।

नवाब—यह तो मालूम हुआ कि आप लड़ने पर तुले हैं। मगर वेश्या का

कोठा कोई अखाड़ा नही है, न मैदान। बेहतर है कि इसको किसी और समय के लिए छोड़ा जाय और अब तशरीफ ले जाइए, नही तो...

खां साहब—नहीं तो तुम मुझे घोल के पी जाओगे ? तशरीफ ले जाइए—यह एक ही रही ! तुम्ही क्यों नही चले जाते ?

नवाब—खां साहब, जनाबे-अमीर की क़सम, मैं बहुत समाई कर रहा हू—इसलिए कि मुझे कुछ अपनी इज्जत का ख्याल है। मां-बाप, अजीज, दोस्त—जो सुनेगा, नाम रखेगा। वरना आपको अभी इन गुस्ताख़ियो का मजा चखा देता ! फिर मैं आप से कहता हू कि व्यर्थ हुज्जत न कीजिए, तशरीफ़ ले जाइए।

खां साहब—अमां ! वेश्या के घर आते हो और अम्मां जान से डरते हो ! गुस्ताख़ियां कैसी ! तुम्हारे बाप का नौकर हू ? तुम अपने घर के रईसजादे हो तो हुआ करो। वेश्या के घर पर तुम भी बैठे हो, हम भी बैठे हैं। जब हमारा जी चाहेगा, जायेंगे। तुम खुद बेकार हुज्जत करते हो। किसी को उठाते नहीं देखा।

नवाब—उठा देना कोई मुश्किल नही। खिदमतगारों को आवाज दूं तो अभी आपकी गरदन में हाथ देकर निकाल देंगे।

खां साहब—खिदमतगारों के बल पर न फूलना। यह कटार भी देखी है !

नवाब—ऐसे बहुत-से कटार देखे ! जो वक्त पर काम आये, वही कटार है। आपकी कटार म्यान से निकलती ही रहेगी, यहां तो अभी आपकी गरदन नाप दी जायगी। फिर देखा जायगा।

खां साहब—लें, अब तुम्ही घर को चले जाओ, अम्मां जान याद करती होंगी।

मैं देख रही थी कि नवाब का चेहरा बिल्कुल बदल गया था। मारे गुस्से वे थर-थर कांप रहे थे। मगर वाह री शराफत ! उस पाजी ने कितना सख्त-सुस्त कहा, मगर यह 'आप'-'आप' करके ही बात कर रहे थे। इससे पहले तो मुझे यह ख्याल हुआ कि नवाब डर गए। मगर मेरा यह ख्याल गलत निकला। वाकई नवाब को अपनी इज्जत का ख्याल था, इसलिए सहन कर रहे थे—चाहते थे कि मामला सहूलियत से रफा-दफा हो जाय। मगर उस पाजी की बदजबानी बढ़ती जाती थी। जितना नवाब सहे जाते थे, वह और शेर होता जाता था, आखिर नवाब ने कहा—"अच्छा, उठिए, खां साहब, हम-आप दोनों यहां से चले चलें। ऐश बाग मे चलकर हमारे-आपके दो-दो हाथ हो जायें।"

खा साहब—(ठहाका मार कर) साहबजादे, अभी तो तुम मुंह चूमने के लायक हो, मरदों से लड़ाई का साहस ! कहीं कोई चरका खा जाओगे तो अम्मा जान रोती फिरेंगी ।

नवाब—मरदूद ! अब तेरी बदजबानियां हद को पहुंच गई हैं। देख, अब तुझे तेरी गुस्ताखी की सजा देता हूं ।

यह कहते ही कहते नवाब ने दुलाई के अन्दर से हाथ निकाला। हाथ में तमंचा था। दन-से दाग दिया ! खां साहब धम-से गिर पड़े। मैं सन्न रह गई ! फर्श पर खून ही खून नज़र आता था। बुआ हुसैनी जहां खड़ी थी, खड़ी रह गई। तमंचे की आवाज सुनकर खानम जान, मिर्जा साहब, मीर साहब, खुर्शीद, अमीर जान, बिस्मिल्ला जान, खिदमतगार, मेहरबान, तू, मैं—सब दौड़े आए। मेरे कमरे में भीड़ हो गई। जितने मुंह उतनी ही बातें ! इतने में नवाब साहब के मुलाजिम शमशेर खां ने लपक कर नवाब के हाथ से तमंचा लिया और कहा, "हजरत, आप अब घर तशरीफ ले जाय, मैं समझ लूंगा।"

नवाब—मैं नहीं जाता। अब जो हुआ सो हुआ और जो कुछ होना होगा, देखा जायगा।

शमशेर खां—(कमर से छुरी निकालकर) कसम जनाबे अमीर की अभी अपने कलेजे मे मार लूंगा, नहीं तो खुदा के वास्ते आप चले जाइए। आपका यहां ठहरना अच्छा नहीं है।

इसी बीच लोगों ने देखा कि खां साहब के गोली बाजू मे लगी है, जान को खतरा नहीं।

शमशेरखां—मैं अर्ज करता हूं कि हुजूर तशरीफ ले जाय। इस मरदूद को हुआ ही क्या है ? आप क्यों बदनाम होते हैं ?

कुछ सोच-विचार के बाद नवाब साहब घर जाने को उठ खड़े हुए। एक आदमी को हमारे यहां से साथ भेजा गया। खानम ने उसी समय मिर्जा अली बेग को बुलवा भेजा, वह चौक ही में थे, तुरंत चले आये। खानम ने अलग ले जाकर उनके कान मे कुछ कहा।

मिर्जा अली बेग—होगा, फेंक दो मरदूद को कमरे के नीचे, सब समझ लिया जायगा।

खैर, खां साहब को कमरे के नीचे तो नहीं फेंका गया। बाजू पर पट्टी बांधी

गई। डोली बुलवाई गई। खां साहब को भी कुछ-कुछ होश आ गया था।'घर का पता पूछा तो मालूम हुआ कि मुर्गखाना मे रहते हैं। डोली पर बिठाके उनके घर भिजवा दिया। कहारो को समझा दिया था कि मकान के करीब कही उतारकर चले आएं। सो ऐसा ही हुआ।

नवाब सुलतान साहब उसके बाद कई दिन तक नही आये। न उनका आदमी आया। मुझे उनमे मुहब्बत-सी हो गई थी। विश्वास था कि वह अब नही आयेंगे। ऐसा विश्वास करने का कारण भी था। इज्जतदार आदमी थे। पहले ही जब आये थे तो आदमी को पहले भेजकर एकात की ताकीद कर दी थी। बुआ हुसैनी ने इकरार कर लिया था कि कोई और न आने पाएगा। मगर इतनी चूक हो गई कि दरवाजे पर किसी को न बिठाया। खां साहब एकदम न जाने कहा से टपक पडे। सारा खेल बिगड गया। सयोग से चार-पाच दिन बाद एक बरात मे मेरा मुजरा था, वहां सुल्तान साहब भी तशरीफ़ रखते थे। मेरा पहला मुजरा रात को नो बजे शुरू हुआ था। महफिल में बात करना तो क्या, इशारे-सकेत का भी अवसर न था। एक गोरा-गोरा लड़का उम्र मे कोई नौ साल का भारी कपड़े पहने सुल्तान साहब के पास बैठा था। मुजरा होने के बाद वह किसी जरूरत से उठा। मैं दूसरे कमरे में घुंघरू आदि उतार रही थी। मैंने इशारे से उसे बुलाया, अपने पास बैठाया, एक पान लगाकर दिया और पूछा, "सुल्तान साहब को जानते हो ?'

लड़का—कौन सुल्तान साहब !

मैं—वह जो दुल्हा के बराबर तुम्हारे पास बैठे थे।

लड़का—(त्यौरी चढाकर) वाह ! वह हमारे बड़े भाई हैं, उन्हें सुल्तान साहब बिल्कुल न कहना !

मैं—अच्छा, तो हम कुछ दें, उन्हें दे दोगे ?

लड़का— कही मुझ पर खफ़ा न हों !

मैं—ख़फ़ा नहीं होंगे।

लड़का—और दोगी क्या, पान ?

मैं—पान नही, पान तो उनके पानदान में होंगे। ऐ लो, यह काग़ज दे देना।

एक परचा कागज का कमरे में फर्श पर पड़ा था। मैंने उसपर कोयले से यह शेर लिख दिया—

मुद्दतों से हम हैं महरूमे-अताब, बज्म में आज उनको छेड़ा चाहिये।
और समझा दिया कि यह कागज उनकी आंख बचाके सामने रख देना। उनको मालूम भी न होगा। लड़के ने ऐसा ही किया। मैं कमरे के पाट की आड़ से झांक रही थी। सुल्तान साहब ने वह कागज उठाया। पढ़ा तो पहले तो चेहरे पर कुछ चिंता जाहिर हुई, फिर थोड़ी देर तक पर्चे को गौर से देखते रहे। उसके बाद मुस्करा कर जेब में रख लिया। फिर शमशेर खां को इशारे से बुलाया। उसके कान में कुछ चुपके-से कहा। उसके कोई एक घंटे बाद शमशेर खां हमारे पास कमरे में आया।

शमशेरखां—नवाब साहब ने कहा है कि उस पर्चे का जवाब हम घर पर जाकर लिख भेजेंगे।

दूसरा मुजरा सुबह को हुआ था। उस समय सुल्तान साहब महफिल में न थे। उनके बगैर मुझे महफिल सूनी-सूनी-सी मालूम होती थी। गाने में दिल न लगता था। आखिर जैसे-तैसे मुजरा खत्म हुआ। मैं घर पर आई। उस दिन दिन-भर शमशेरखां का इन्तिजार रहा। शाम को चिराग जलने के बाद वह आया। नवाब का संदेश दिया, लिखा था—

"तुम्हारे शेर ने उस आग को जो मेरे दिल में दबी हुई थी, कुरेद कर भड़का दिया। वाकई मुझे तुमसे मुहब्बत है। मगर अपनी इज्जत के ख्याल से मजबूर हूं। तुम्हारे मकान पर अब हरगिज न आऊंगा। मेरे एक जिगरी दोस्त नवाबगंज में रहते हैं। कल मैं तुम्हें वहां बुलवाऊंगा। फुर्सत से चली आना। यही एक सूरत मिलने की है। वह भी रात के नौ-दस बजे तक ही।

शबे-वसाल की कोताहियों का शिक्वा क्या
यहां तो एक नजर देखने के लाले हैं।

सुल्तान साहब उस दिन से खानम के मकान पर कभी नहीं आए। सप्ताह में दो-तीन बार नवाबगंज में नवाब बन्ने साहब के यहां मुझे बुलवा लेते थे। बड़ी मजे की संगति होती थी। कभी शेर-ओ-शायरी हुई, कभी नवाब बन्ने तबला बजाने लगे, मैं गाने लगी। सुल्तान साहब खुद भी गाते थे, स्वर-ताल का तो ऐसा ज्ञान नहीं था, पर अपनी गजल आप अच्छी गा लेते थे।

कुछ इस तरह से नजरबाजियों की मश्क बढ़ी
मैं उनको और वो मेरी नजर को देखते हैं।

जब याद आता है, उस जलसे की तस्वीर आंखों के सामने फिर जाती है। गर्मियों के दिन, चांदनी रात का जलवा, बाग के सहन में तख्तों पर सफेद चांदनी का फर्श, गाव तकिये लगे हुए, ऐश के सब सामान मौजूद, बाग में तरह-तरह के फूल खिले हुए—बेला-चमेली की महक में दिमाग तर होता था, खुशबूदार गलोरियां, खुशबू में बसे हुक्के, एकांत वातावरण, आपस की चुहलें, खुले दिल की बातें ! ऐसे ही जलसों में बैठकर दीन-दुनिया का तो कहना ही क्या, इन्सान खुदा को भी भूल जाता है। और इसी की सजा है कि ऐसे रागरंग के जलसे बहुत जल्द समाप्त हो जाते हैं और उनका खेद मरते दम तक रहता है। बल्कि शायद मरने के बाद भी—

लज्जते-मासियते-इश्क न पूछ,
खुल्द में भी वह बला याद आई।

वाकई सुल्तान साहब को मुझ से और मुझे उनसे मुहब्बत थी। दोनों की रुचियां कुछ ऐसी मिलती-जुलती थी कि उम्र भर का साथ होता तो कभी मलाल न था। सुल्तान साहब को शेर-ओ-शायरी का शौक था और मुझे भी इसकी लत हो गई है। सुल्तान साहब से जैसा मेरा दिल मिला और किसी से नहीं। मुझे विश्वास है कि उनका प्रेम भी इसी कारण था। बात-बात में शेर पढ़ते थे, मैं जवाब देती थी। मगर अफसोस ! दुर्भाग्य ने वह जलसा बहुत जल्द खत्म कर दिया—

दिल यह कहता है फिराके-माहो-अंजुम देखकर
हाय क्या-क्या सोहबतें रातों की बरहम हो गईं !

रुसवा—अच्छा, वह सब कुछ तो हुआ। आपके कदमों की बरकत से ऐसे-ऐसे बहुत-से जलसे टूटे होंगे !

उमराव—वाह, मिर्जा साहब ! तो क्या मेरे कदम ऐसे मनहूस हैं ? आपने खूब कही !

रुसवा—यह तो मैं नहीं कह सकता। मगर खैरियत से जहां आप तशरीफ ले गईं, सफाई हो गई।

उमराव—आप जो चाहे कहिए। अगर ऐसा जानती कि आप यह कहेंगे, तो अपनी कहानी हरगिज न सुनाती। खैर, कसूर हुआ।

रुसवा—कसूर ? यही तो आपने जिन्दगी-भर में एक काम किया है जिससे

आपका नाम दुनिया मे रह जायगा। चाहे नेकनामी के साथ, चाहे बदनामी के साथ। इसका मैं जिम्मा नही लेता। अब इस बात को यही छोड़िए। ग़ज़ल के दो-तीन शेर और याद हो तो ज़रा पढ दीजिए।

उमराव—आप भी आदमी को खूब बनाते हैं !

रुसवा—खैर, बिगाडता तो नही। अच्छा, अब शेर पढिए।

उमराव—अच्छा सुनिए। एक मतला और दो शेर और याद हैं।

दर्दे-दिल की लज्ज़तें सर्फ़े-शबे-ग़म हो गईं,
तूले-फ़ुर्क़त से बहुत बेताबियां कम हो गईं,
वो जो बैठे सोग में ज़ुल्फ़ें-रसा खोले हुए
हसरतें मेरी शरीके-बज़्मे मातम हो गईं।
हमनशीं देखी नहूसत दास्ताने हिज्र की
सोहबतें जमने न पाई थीं के बरहम हो गईं।

८

उन्हीं दिनों नवाब जाफर अली खां साहब की मुलाजिम हुई। जनाब की आयु कोई सत्तर बरस की थी। मुह मे एक दात न था, कमर झुक गई थी। सर पर एक बाल स्याह न था, मगर अभी भी अपने को प्यार करने योग्य समझते थे। हाय ! वह उनका कंचली का अगरखा और गुलबदन का लाल नेफे का पाजामा, बेलबूटों वाली टोपी, काकले बटी हुई, कभी नही भूलेंगी।

आप कहेंगे कि इस आयु और इस हालत में वेश्या को अपनी सेवा में रखने की क्या जरूरत थी। सुनिए, मिर्ज़ा साहब, उस ज़माने का फैशन यही था। कोई अमीर, रईस शायद ही ऐसा था जिसने वेश्या नही रखी थी। नवाब साहब की सरकार में जहां और ऐश-विलास के सामान होते थे, वहां खैर मनाने वाले जलूसियों मे एक वेश्या भी रहती थी। पच्चहत्तर रुपया महीना देते थे। मैं दो घण्टे के लिए उनकी संगति करके चली आती थी। और पाबंदी सुनिए ! नवाब साहब बूढे हो गए थे, मगर क्या मजाल जो नौ बजे के बाद दीवानखाने में बैठ ...। किसी दिन सयोग से देर हो जाती तो दाई आकर जबरदस्ती उठा ले

जाती थी। नवाब साहब की माता जिन्दा थी। वे उनसे इस तरह डरते थे जैसे पांच बरस का बच्चा डरता है। बीवी से भी बेहद मुहब्बत थी! बचपन में ही शादी हुई थी, मगर सिवा मुहर्रम की रातों के किसी रात अलग नहीं सोते थे।

आप तो हंसते होंगे। मगर मेरे दिल से पूछिए! बेशक प्यार के काबिल थे। उस बुढ़ापे में जब सोज (शोकगीत) पढ़ते थे तो दिल लोट जाता था। संगीत में उनको कमाल हासिल था। क्या मजाल कि कोई उनके सामने गा सके! अच्छे-अच्छे गवैयों को टोक देते थे। सोज पढ़ने में अद्वितीय थे। मीर अली साहब के प्रसिद्ध सोज उनकी जबान पर चढ़े हुए थे। उनकी मुलाजमत से मुझे यह फायदा हुआ कि सैकड़ों सोज याद हो गए। दूर-दूर मेरी प्रसिद्धि हो गई।

खानम की ताजियादारी सारे शहर की वेश्याओं से बढ़-चढ़कर थी। इमामबाड़े में पटके, शीशे के दीपदान जो भी चीज थी अमूल्य थी। मुहर्रम के दिनों में दस रोज तक मजलिस होती थी। अंतिम दिन सैकड़ों अभावग्रस्त मोमिनों को खिलाकर रोजा तुड़वाया जाता था। हर जुमेरात को उन दिनों मजलिस होती थी।

मैं भी सोज पढ़ने में प्रसिद्ध हो गई थी। पढ़ने की ऐसी तरकीबें और किस्से याद थे? बड़े-बड़े सोज पढ़ने वाले मेरे सामने मुंह न खोल सकते थे। इसी सोजख्वानी की बदौलत नवाब मलका किशवर के महल तक मेरी रसाई हुई। जहांपनाह ने खुद मेरी नौहा-ख्वानी की तारीफ की। सरकार शाही से मुझे हर मुहर्रम में बहुत कुछ मिलता था। मरसिया पढ़ने वालों में मेरा नाम था। रात को अमामबाड़ा में मातम करके मुझे सरकार के दर पर हाजिर होना पड़ता था। कोई दो बजे रात को वहां से आती थी।

जिस समय बिसमिल्ला की मिस्सी हुई थी, नवाब छब्बन साहब के चाचा कर्बला गये हुए थे। मिस्सी के छः महीने बाद वह वापस लौटे। उनकी भतीजी की नवाब के साथ मंगनी हो गई थी। उन्होंने आते ही शादी पर जोर दिया। नवाब साहब बिसमिल्ला पर मस्त थे। इधर बिसमिल्ला जान भी उनके घर में बैठ जाने की हामी भर चुकी थी। नवाब ने शादी से साफ इनकार कर दिया। मगर इनकार चलता कब था! शाही जमाना था! उनकी [illegible] वे कब मानते थे। एक रात नवाब के मकान पर जलसा था। यार-दोस्त जमा थे। बिसमिल्ला नवाब के पहलू में बैठी थी। उस रात बिसमिल्ला के साथ मैं भी

गई थी। सामने बैठी मैं गा रही थी, नवाब साहब तानपूरा छेड़ रहे थे। नवाब के एक दोस्त दिलावर हुसैन तबला बजा रहे थे। इतने में एक खबरदार ने ख़बर दी कि बड़े नवाब साहब (नवाब साहब के चाचा) तशरीफ़ ला रहे हैं। नवाब छब्बन यह समझे कि आये हैं तो अन्दर महल में बेगम साहब (नवाब साहब की माता) के पास जायेंगे। हम सब को भी यही ख़याल था। मगर वह तो सीधे दीवानख़ाने में घुसे चले आए। आके जो देखा कि यह जलसा हो रहा है, आग-बगूला हो गए। ख़ैर, उनके आने के साथ ही गाना बंद हुआ, नवाब साहब उठ खड़े हुए।

बड़े नवाब साहब—ख़ैर, अब आदर-सम्मान को रहने दीजिए। मुझे एक जरूरी बात कहनी है, वरना आपके ऐश-विलास में ख़लल न डालता।

नवाब—फ़रमाइए।

बड़े नवाब—आप बच्चे हैं, आपको मालूम नहीं—मेरे छोटे भाई स्वर्गीय नवाब अहमद अली खां स्वर्गीया माता जी के सामने ही गुज़र गये थे। इस कारण आपका इस बाप-दादा की जायदाद पर कोई हक नहीं है जिस पर आप कब्ज़ा किये हुए हैं। इसमें संदेह नहीं कि स्वर्गीया माता जी ने आप को बेटा कहा था, और मरते समय आपके नाम वसीयत भी कर गई थीं। मगर वह कुछ ज्यादा नहीं। उसी वसीयत की बिना पर केवल एक-तिहाई जायदाद आपको मिल सकती है। लोगों के कहने-सुनने से ऐसा मालूम होता है कि आप एक-तिहाई से ज्यादा खर्च कर चुके हैं। ख़ैर, एक तिहाई का दावा नहीं और ज्यादा खर्च कर देने की आपसे पूछताछ न की जायगी—इसलिए कि आप मेरे खून और जिगर हैं। (इसके बाद बड़े नवाब साहब की आंखें डबडबा आईं, मगर संयम करके) आप इस जायदाद पर तमाम उम्र काबिज रहते। मेरी ज़ाती जायदाद जो मेरे खर्च के लिए काफी से ज्यादा है, उसके भी आप ही वारिस होते। मगर आपकी बद-चलनी ने मुझे मजबूर किया है कि आपको इस मौरूसी जायदाद से बेदखल कर दूं। बुजुर्गों की नेक कमाई हरामकारी में मिटाने के लिए नहीं है। अदालत के आदमी मेरे साथ आये हैं। इस समय सारे घर का मूल्य आंका जायगा। आप तुरंत अपने जलसे के साथियों समेत यहां से तशरीफ़ ले जाइए।

नवाब—तो इस जायदाद में मेरा कोई हक नहीं ?

बड़े नवाब—जी नहीं।

नवाब—अच्छा एक-तिहाई पाने का तो हकदार हूं।

बड़े नवाब—वह आप ले चुके। और आपको कुछ नही मिलने वाला।

नवाब—तो अच्छा, अम्मा जान को मै अपने साथ लेता जाऊंगा।

बड़े नवाब—वह आपसे अपना सम्बध तोड़ रही हैं, मेरे साथ कर्बला जायगी।

नवाब—तो फिर मैं कहां जाऊ !

बड़े नवाब—यह मैं क्या जानू ! यह आप अपने साथियों, मुलाजिमो और अपनी प्रेमिका से पूछिए।

नवाब—अच्छा, तो मेरे कपडे, सामान वगैरा तो दे दीजिए।

बडे नवाब—इस मकान मे आपका कोई सामान नही है, न आपके ज़ाती बनवाये हुए कपडे हैं।

इसके बाद दीवानी अदालत के बेलफ दीवानखाने में चले आए और नवाब साहब को यार-दोस्तों-सहित घर से बाहर कर दिया। हम लोगों ने घर से निकलते ही डोलियां किराये पर की और चौक का रास्ता पकड़ा। नवाब साहब और उनके मुसाहब खुदा जाने कहा गए !

बाद में सुना कि मुसाहब एक-एक करके रास्ते से ही उनसे विदा हो गए थे। नवाब के पिता के समय का एक पुराना नौकर मखदूम बख्श—जिसे नवाब ने बूढ़ा और बेकार समझकर नौकरी से हटा दिया था—रास्ते मे मिला। उसने हाल पूछा और नवाब की बेकसी पर तरस खाकर उन्हे अपने घर ले आया।

उसी शाम बिस्मिल्ला के कमरे मे जलसा था। मियां हसनू जो नवाब छब्बन के खास कारकुन, मुसाहब, दोस्त—जहा नवाब का पसीना गिरे, वहां अपना खून बहाने का दावा करने वाले—तशरीफ रखते थे। वह पहले से ही कभी-कभी नवाब से चोरी-छिपे बिस्मिल्ला के पास आया करते थे। मगर आज खुलेआम बड़े ठाठ से आ बैठे। इस समय जैसे आप बिस्मिल्ला जान पर अकेले बिना किसी दूसरे के दखल के पूरी तरह कब्जा किये हैं। बिस्मिल्ला को अपनी सेवा में रखने की बातचीत हो रही है।

हसनू—देखो बिस्मिल्ला जान ! नवाब से तो अब कोई आशा मत करो जो कुछ कहो दे दिया करूगा। मैं गरीब आदमी हू, ज्यादा तो मेरी जो नवाब साहब देते थे, उसका आधा भी दे पाना मेरे लिए संभव न

मगर हा, किसी-न-किसी तरह आपको खुश रखूंगा।

बिस्मिल्ला—गरीब आदमी हो ? यह नही कहते कि नवाब की दौलत उड़ा-कर अपने घर में भर ली और फिर हमसे गरीबी जताते हो ! ऐसे गरीबों को पिघलाओ तो नौ मन चरबी से कम न निकले !

हसनू—हैं, है ! तुम तो ऐसा न कहो। वो नवाब के पास था ही क्या जो मैं घर भर लेता। मेरी माता जी के पास क्या कुछ कम था ?

बिस्मिल्ला—आपकी माता जी, बुआ फ़र्खन्दा, नवाब सरफराज महल की पानदान वाली दासियों में थी न !

हसनू—(झेंप कर) वो चाहे जो थी, जब मरी हैं, तो चार हजार का जेवर छोड़ मरी हैं।

बिस्मिल्ला—वह आप की बीवी लेकर अपने यार के साथ निकल भागीं। आपके पल्ले क्या पड़ा ? मेरे आगे शेख़ी न बघारिये, मुझे रत्ती-रत्ती आपका हाल मालूम है।

हसनू—तो क्या वालिद के पास कुछ कम था ?

बिस्मिल्ला—वालिद आपके नवाब हसन अली खां के चिड़ीमारों में थे।

हसनू—चिड़ीमारों में ?

बिस्मिल्ला—अच्छा, मुर्गबाजों में सही !

हसनू—मुर्गबाजों मे थे ?

बिस्मिल्ला—अच्छा वह बटेरबाज सही, था तो चिड़ीमार का काम।

हसनू—लीजिए आप तो मजाक करती हैं !

बिस्मिल्ला—मैं खरी कहती हू। इसी से बुरी मशहूर हू। और कहती भी न, तुम्हारे छिछोरेपन पर जी जल गया। यू तुम आते थे, मैंने कभी मना नहीं किया। आज ही तो नवाब पर यह गुजरी, आज ही आपने मेरे मुंह पर सेवा मे रखने की बात कह डाली ! होश की दवा करो। तुम क्या नौकर रखोगे, यही न, एक महीना, दो महीना, हद तीन सही।

हसनू—छः महीने की तनख्वाह जमा करा दूं ?

बिस्मिल्ला—जबानी ही !

हसनू—यह लो (सोने के जड़ाऊ कड़े कमर से निकाल कर), तुम्हारे ख्याल में कितने का माल होगा ?

बिसमिल्ला—मैं देखूं (कड़े हसनू के हाथ से लेकर अपने हाथों में पहन लिए)। कल छुन्नामल के लड़के को दिखाऊंगी। खैर, बने अच्छे हैं। अच्छा आप तशरीफ ले जाइए। इस समय तो मुझे छुट्टन बी जी ने बुलाया है, ठहर नहीं सकती, कल इसी समय आइए।

हसनू—तो कड़े उतार दीजिए।

बिसमिल्ला—या अल्लाह ! कोई चोरों का व्यवहार है! मैं तुम्हारे कड़े कुछ खा न लूंगी। इस वक्त मेरे हाथों में सादी चीड़ियां पड़ी हैं। अम्मां जान से चोरी-छिपे जाती हूं, उनसे कड़े मांगूंगी तो कहेंगी क्या करोगी। इसलिए जरा हाथ में डाल लिए, सुबह ले जाना।

हसनू—कड़े दे दीजिए। मेरे नहीं हैं, नहीं तो क्या बात थी ! तुम्हारे ऊपर न्योछावर कर देता !

बिसमिल्ला—तो क्या आपकी अम्मा के हैं ? उनके मरने के बाद भी क्या आप का माल नहीं ?

हसनू—मैंने यों ही तुम्हें दिखाये थे, मेरा माल नहीं है।

बिसमिल्ला—जैसे मैं पहचानती नहीं ! ये वही कड़े हैं जो नवाब ने उस दिन मेरे सामने गिरवी रखने को दिये थे।

हसनू—लो और सुनो ! कब ?

बिसमिल्ला—यह जब कि जिस दिन बहन उमराव के मुजरे की फरमाइश हुई थी—बहन उमराव ने जिद्द की थी कि मैं पूरे सौ लूंगी। नवाब के पास इतना था नहीं। मेरे सामने बक्से से निकाल कर कड़े फेंक दिये थे (फिर मेरी ओर देखकर) बहन उमराव, ये वही कड़े हैं न !

मैं—मुझसे क्या पूछती हो, क्या तुम झूठ कहोगी।

बिसमिल्ला—लो हवा खाओ। अब ये कड़े आपको न दिये जायेंगे। नवाब के कड़े हैं। हमने पहचान लिये। अब हम न देंगे !

हसनू—लो अच्छी कही ! और वह रुपये जो हमने दिये हैं ?

बिसमिल्ला—रुपये तुम कहां से लाये ? वह भी नवाब का माल था।

हसनू—जी सच, महाजन ने अपने पास से दिये थे।

बिसमिल्ला—अच्छा तो महाजन को भेज दीजिए, हम उनको समझ लेंगे। आप टहलिए।

हसनू—कहे तो मैं ले जाऊंगा।

बिस्मिल्ला—मैं तो न दूंगी।

हसनू—तो कुछ जबरदस्ती है?

बिस्मिल्ला—जी हां, जबरदस्ती है! अब चुपके-से खिसक जाइए, नहीं तो···।

हसनू—अच्छा तो रहने दीजिए, कल ही दे दीजिएगा।

बिस्मिल्ला—कल देखा जायगा।

बिस्मिल्ला ने 'देखा जायगा' इस तेवर से कहा कि मियां हसनू को चुपके से उठके चले आना पड़ा। बात यह थी कि नवाब साहब के चाचा ने छब्बन साहब के नौकरों से सारा हिसाब पूछा। उस समय जो-जो माल जिसकी मारफत गया था, उसको ब्याज और असल देकर छुड़ा लिया। हसनू से जब इस कड़े की जोड़ी के बारे में पूछा गया, वह साफ मुकर गया कि मेरी मारफत तो गिरवी नहीं गई। इसी से मियां हसनू की कोर दबी थी।

बिस्मिल्ला—(हसनू के चले जाने के बाद मुझ से) देखा बहन, यह बड़ा कमीना और स्वार्थी है। नवाब का घर इसी मूजी ने तहस-नहस किया। मैं मुद्दत से इस मुए की ताकमें थी, आज ही दाव पर चढ़ा है! ये कड़े मैं इसे न दूंगी, कर ही क्या सकता है, चोरी का तो माल है!

मैं—हरगिज न देना, देना है तो नवाब को दे दो, उपकार होगा।

बिस्मिल्ला—नवाब को भी न दूंगी। बहन, ग्यारह सौ की जोड़ी है। मुए ने सवा दो सौ में ही हथिया रखी है! इससे ज्यादा नहीं। सवा दो सौ हवाले कर दूंगी। दस-बीस सूद के और सही!

मैं—भला महाजन यों क्यों देने लगा!

बिस्मिल्ला—महाजन? इसीने रुपये दिये थे, और जब बड़े नवाब नेपूछा तो कैसा मुकर गया! अगर यह कुछ ज्यादा चीं-चपड़ करेंगे तो इनको कोतवाली का चबूतरा दिखाऊंगी।

अभी ये बातेंहो ही रही थीकि नवाबसाहब तशरीफ़ लाये—बिल्कुल पैदल, अकेले! चेहरे पर उदासी छाई हुई थी। आंखों मे आंसू भरे थे। न वह ठाठ-बाट, शान-शौकत, न वह रोबदाब, न हंसना-बोलना! चुपके-से आकर बैठ गए। सच कहूं, मेरी तो आखों मे आंसू भर आए। मैंने अपने को रोका। मगर वाह री

बिस्मिल्ला ! वेश्या हो तो ऐसी ! आने के साथ ही कड़ों का किस्सा छेड़ दिया ।

बिस्मिल्ला—तो अब देखो, यह वही कड़े की जोड़ी है न जो तुम ने उस दिन हसनू को गिरवी रखने को दी थी ?

नवाब—वही हैं। वह तो मुकर गया था कि मेरे हाथों गिरवी नहीं गए।

बिस्मिल्ला—कितने में गिरवी रखे गए थे ?

नवाब—यह तो याद नहीं, शायद ढाई सौ या सवा दो सौ कुछ ऐसे ही थे ।

बिस्मिल्ला—और सूद क्या था ?

नवाब—सूद का हिसाब किसने आज तक किया ? जो चीज गिरवी हुई फिर उसके छुड़ाने की नौबत कब आई कि सूद का हिसाब किया जाता !

बिस्मिल्ला—अच्छा, तो ये कड़े मैं ले लूं !

नवाब—ले लो ।

बिस्मिल्ला—कहो तो मियां हसनू को मिर्जा साहब के पास भेजूं ?

नवाब—नहीं, मेरे सर की कसम, ऐसा न करना, सय्यद है !

बिस्मिल्ला—सय्यद है ? इसके बाप का तो पता नहीं !

नवाब—खैर, यह तो अपने मुंह से कहता है ।

मैं अपने दिल में नवाब की हिम्मत की प्रशंसा करने लगी। वाह री हिम्मत ! क्या कहना ! खानदानी रईस हैं न !

बिस्मिल्ला की बेमरुवती देखिए ! नवाब से वही छुट्टन जान के घर जाने का बहाना करके जल्दी विदा कर दिया, खुदा जाने किससे वायदा था ! इसके दूसरे-तीसरे दिन की बात है, मैं खानम के पास बैठी थी। इतने में एक बूढ़ी-सी औरत आई। खानम साहब को झुक-झुक कर सलाम किया। खानम ने बैठने का इशारा किया, सामने बैठ गई।

खानम—कहां से आई हो ?

बुढ़िया—क्या बताऊं कहां से आई हूं ! कोई है तो नहीं ? क्यों ?

खानम : बुआ, यहां कौन है ? मैं हूं, तुम हो और यह छोकरी। इसे बात समझने की तमीज नहीं, कहो।

बुढ़िया : मुझे नवाब फ़ख़रुनिसा बेगम ने भेजा है।

खानम : कौन फ़ख़रुनिसा बेगम ?

बुढ़िया : ऐ तो तुम नहीं जानतीं ! नवाब छब्बन साहब...

खानम : समझी, कहो।

बुढ़िया : बेगम साहब ने मुझे भेजा है। आप बिस्मिल्ला जान की अम्मा हैं न?

खानम—हां, बात कहो।

बुढ़िया—बेगम साहब ने कहा है कि छब्बन साहब मेरा इकलौता लड़का है। मैं भी उसे बहुत चाहती हूं और उसका बाप भी बहुत प्यार करता था। मेरे नाजों का पाला है। उसका चाचा भी उसका दुश्मन नहीं है, अपनी औलाद से बढ़कर समझता है। उसकी भी एक इकलौती लड़की है—छब्बन की मंगेतर। उस लड़की पर गाली चढ़ चुकी है। छब्बन ने शादी से इन्कार कर दिया! इनपर चाचा को बुरा लगा, उन्हें बेदखल कर दिया। मैंने दखल नहीं दिया। यह सब चेतावनी के तौर पर किया गया था। तुम्हारी लड़की का उम्र-भर का घर है। जो तनख्वाह लड़का देता था, उससे दस ऊपर मुझ से लेना मगर इतना एहसान मुझ पर करो कि शादी के लिए राजी कर दो। शादी के बाद सब जायदाद उसी की है। सिवा उनके मेरा और कौन है? मेरी और चाचा की जान व माल का वही मालिक है। मगर इतना ख़याल रखो कि यह घर तबाह न होने पाय। इसमें तुम्हारा भी भला है और हमारा भी, आगे तुम्हें अख्तियार है।

खानम—बेगम साहब को मेरी तरफ से आदाब-तसलीमात कहना और कहना कि जो कुछ आपने इरशाद फरमाया है, खुदा चाहेगा तो वही होगा। मैं आपकी उम्र-भर की लौंडी हूं। मुझ से कोई काम उल्टा नहीं होगा, खातिर जमा रखिए।

बुढ़िया—मगर बेगम साहब ने कहा है, कि छब्बन को इसकी खबर न होने पाये। बड़ा जिद्दी लड़का है, अगर कहीं मालूम हो गया तो बिल्कुल न मानेगा।

खानम—"क्या मजाल!" फिर खानम ने मुझे ताकीद की, "देख छोकरी, कहीं किसी से यह बात न छेड़ बैठना!" मैंने कहा, "जी नहीं।" इसके बाद बुढ़िया ने खानम को अलग ले जाकर चुपके-चुपके बातें कीं। वे मैंने नहीं सुनीं। बुढ़िया के विदा होते समय खानम को यह कहते सुना—"मेरी तरफ से अर्ज करना, इसकी क्या ज़रूरत थी! हम लोग तो सदा से उन्हीं का नमक खाते हैं।"

बुढ़िया के जाने के बाद खानम ने बिस्मिल्ला को बुलाया और उसके कान में ऐसे अक्षर फूंके कि इसके बाद जब नवाब साहब आये तो वह आवभगत हुई कि

पहले कभी नहीं हुई थी। नवाब साहब पधारे हैं, बिस्मिल्ला से प्यार की बातें हो रही हैं, मैं भी मौजूद हूं कि इतने में खानम साहब बिस्मिल्ला के कमरे के दरवाजे पर आकर खड़ी हुई।

खानम—ऐ लोगो, हम भी आवें?

बिस्मिल्ला—(नवाब से) ज़रा सरक बैठो, अम्मां आती हैं (खानम से) आइए!

खानम ने सामने आते ही नवाब को तीन बार झुक कर सलाम की। मैंने खानम को इस तरह झुक कर सलाम करते पहले कभी न देखा था।

खानम—(नवाब से) हुजूर का मिज़ाज कैसा है?

नवाब—(गरदन झुका कर) खुदा का शुक्र है।

खानम—खुदा रखे! हम लोग तो दुआगो हैं। हज़ार बढ़ जायें, मगर फिर वही टके के—आपके हाथ ताकने वाले! आपको खुदा ने रईस बनाया है, इस समय एक अर्ज लेकर हाज़िर हुई हूं। यों तो बिस्मिल्ला, खुदा रखे, साल-भर से आपकी खिदमत में है, मगर मैंने कभी आप को तकलीफ नहीं दी। बल्कि हुजूर के सलाम को भी बहुत कम हाज़िर होने का अवसर हुआ। इस समय ऐसी ही जरूरत थी जो चली आई।

खानम तो ये बातें कर रही थी और बिस्मिल्ला हैरान उनका मुंह देख रही थी कि क्या कह रही हैं! मैं कुछ-कुछ बात का पहलू समझे हुए थी। नवाब का यह हाल था कि चेहरे से एक रंग जाता था, एक आता था। आंखें झपी जाती थीं, मगर चुपके बैठे रहे।

खानम—तो फिर अर्ज करूं?

नवाब—(बड़ी मुश्किल से) कहिये।

खानम—(मुझसे) ज़रा बुआ हुसैनी को बुला लाना।

मैं गई और बुआ हुसैनी को बुला लाई।

खानम—(बुआ हुसैनी से) बुआ, ज़रा दोशाले की जोड़ी तो उठा लाना—वही जो कल बिकने को आई है।

'बिकने को आई है'—इन शब्दों ने नवाब पर अचानक बिजली गिराने का-सा असर किया, मगर बहुत संयम से चुपके बैठे रहे। इतने में बुआ दुशाला ले आईं—कैसा ज़री के काम का बढ़िया दुशाला था कि बहुत

में आता था।

खानम—(नवाब को दोशाला दिखाके) देखिए, यह दोशाला कल बिकने को आया है। सौदागर दो हजार कहता है, पन्द्रह सौ तक लोगों ने लगा दिये हैं, वह नहीं देता है। मेरी निगाह में सत्रह सौ बल्कि अठारह सौ तक महगा नहीं है। अगर हुजूर परवरिश करें तो भला इस बुढ़ापे में आपकी बदौलत एक दोशाला तो और ओढ़ लूं!

नवाब खामोश बैठे रहे। बिस्मिल्ला कुछ बोलना ही चाहती थी कि खानम ने झट से कहा—"ठहर, लड़की! तू हमारे बीच में न बोलना। तू तो आये दिन फरमाइश किया करती है। एक फरमाइश हमारी भी सही।"

नवाब फिर चुपके बैठे रहे।

खानम—ऊई, नवाब! सखी से सूम भला जो जल्दी दे जवाब! कुछ तो इरशाद कीजिए। चुप रहने से तो मुझे संतोष न होगा। 'हां' न सही, 'नहीं' सही। कुछ तो कह दीजिए। मेरे दिल का अरमान तो निकल जाए।

नवाब अब भी चुप!

खानम—अल्लाह, अल्लाह! हुजूर जवाब दीजिए। यूं तो मेरी हक़ीकत ही क्या है, मुई बाजारी वेश्या! मगर आप लोगों की ही दी हुई इज्जत है! खुदा के वास्ते इन छोकरियों के सामने तो मुझ बुढ़िया को जलील न कीजिए।

नवाब—(आखों में आसू भरकर) खानम साहब, यह दोशाला क्या चीज है! मगर तुमको शायद मेरा हाल मालूम नहीं। क्या बिस्मिल्ला जान ने कुछ नहीं कहा? और उमराव जान भी तो उस दिन थी!

खानम—मुझ से किसी ने कुछ नहीं कहा। क्यों? खैर तो है?

बिस्मिल्ला कुछ बोलने को थी कि खानम ने आंख का इशारा किया। वह चुप रही, टाल के इधर-उधर देखने लगी। मैं पहले से ही बुत बनी बैठी थी।

नवाब—आपके दुश्मन इस काबिल न रहे कि आप की फरमाइशों को पूरा कर सकें।

खानम—आपके दुश्मन इस क़ाबिल न रहे हों और मैं ऐसी छिछोरी नहीं जो रोज फरमाइशें किया करूं। फरमाइशें बिस्मिल्ला करे, न करे। भला मैं बूढ़ी-आड़ी, मेरी फरमाइशें क्या और मैं क्या?

यह कहके खानम ने एक सर्द आह भरी, 'हाय, तक़दीर! अब हम इस लायक

हो गये कि ऐसे-ऐसे रईस एक ज़रा से चीथड़े के लिए हमसे मुंह छिपाते हैं !

मैं देख रही थी कि खानम का एक-एक वाक्य नवाब के दिल पर नश्तर का काम कर रहा था।

नवाब—'ख़ानम साहब, आप सब लायक हैं। मैं सच कहता हूं, अब मैं इस लायक नहीं रहा जो किसी की फरमाइश पूरी करूं।' इसके बाद नवाब ने अपनी तबाही का हाल संक्षेप में कहा।

खानम—"खैर मियां, इस लायक तो आप नहीं रहे कि एक तुच्छ-सी फरमाइश पूरी करें ! फिर तो लौंडी के मकान पर आना भी क्या ज़रूरी था ! क्या हुज़ूर को मालूम नहीं कि वेश्याएं चार पैसे की मीत होती हैं। क्या आपने यह कहावत नहीं सुनी कि 'रण्डी किसकी जोरू ?' हम लोग लिहाज करें तो खायें क्या ? यूं आइए, आपका घर है, मैं मना नहीं करती, मगर आपको अपनी इज्जत का खुद ही ख्याल चाहिये।" यह कहकर खानम तुरन्त कमरे से बाहर चली गईं।

नवाब—"वाकई मुझ से बडी गलती हुई ! इंशा अल्ला, अब न आऊंगा।" यह कहकर वह उठने को थे कि बिस्मिल्ला ने दामन पकड़ के बिठा लिया।

बिस्मिला—अच्छा, तो इस कड़े की जोडी के बारे मे क्या कहते हो ?

नवाब—(कुछ कटुता से) मैं नहीं जानता।

बिस्मिल्ला—ऐ वाह ! तो तुम बिल्कुल ही खफ़ा हो गए ! जाते कहां हो, ठहरो !

नवाब—नहीं बिस्मिल्ला जान, अब मुझे जाने दो। अब मेरा आना बेकार है। जब खुदा हमारे दिन फेरेगा तो देखा जायगा। और अब दिन क्या फिरेंगे !

बिस्मिल्ला—मैं तो न जाने दूंगी।

नवाब—तो क्या अपनी अम्मा से जूतियां खिलवाओगी ?

बिस्मिल्ला—(मुझ से) हां, सच, बहन उमराव, आज यह बड़ी बी को हुआ क्या था ? बरसों हो गए, मेरे कमरे मे आज तक झांकी तक नहीं। आज आईं भी तो कयामत ढा गईं ! भई, अम्मा चाहे नाराज़ हो, चाहे खुश, मै नवाब से सम्बंध नहीं तोड़ सकती। आज उनके पास नहीं है, न सही ! ऐसी भी क्या आंखों पर ठीकरी रख लेना चाहिए ! आखिर यही नवाब हैं जिनकी अम्मां ने हज़ारों रुपये पाये हैं, आज ज़माना इनसे फिर गया है, तो .

तोते की तरह आंखें फेर लें ? घर से निकाल दें ? यह हरगिज नहीं हो सकता। अब अगर अम्मां ज्यादा तंग करेंगी तो बहन उमराव, मैं सच कहती हूं (नवाब का हाथ पकड़ के) किसी तरफ निकल जाऊंगी। लो, मैंने अपने दिल की बात कह दी।

मैं बिस्मिल्ला की बातें अच्छी तरह समझ रही थी, और हां में हां मिला रही थी।

बिस्मिल्ला—अच्छा, तो नवाब, तुम कहां रहते हो ?

नवाब—कहां बताऊं ?

बिस्मिल्ला—आखिर कहो तो !

नवाब—तहसीनगज में मखदूम बख्श के मकान पर रहता हूं। अफसोस ! मैं न जानता था कि मखदूम ऐसा नमक हलाल आदमी है ! सच तो यह है कि मैं उससे बहुत शर्मिंदा हूं।

मैं—यह वही मखदूम बख्श है न जो आपके वालिद के समय से नौकर था और जिसे आपने हटा दिया था ?

नवाब—"हां, वही मखदूम बख्श ! क्या कहूं, इस वक्त वह ऐसा काम आया ! खैर, अगर खुदा ने चाहा..." इतना कहते ही नवाब की आंखों से टप-टप आंसू गिर पड़े। इसके बाद नवाब बिस्मिल्ला के हाथ से दामन छुड़ाके कमरे के बाहर चले गए। मेरा इरादा था कि नवाब से चलते समय कुछ बातें करूंगी, और इसीसे उनके साथ ही उठी थी, मगर वह इतनी जल्दी सीढ़ियों से उतर गए कि मैं कुछ कह न सकी। इस समय नवाब के तेवर बहुत खराब थे। खानम की बातों ने उनके दिलपर गहरा असर किया था। उनकी हालत बिल्कुल मायूसी की थी। यद्यपि मुझे मालूम था कि यह सब बातें जो खानम ने की है, सब उन बातों की भूमिका है, जो किसी और दिन के लिए स्थगित रखी गई हैं। मगर मुझे बड़ी चिंता हो रही थी कि देखें क्या होता है; कहीं ऐसा न हो कि कुछ खा के सो रहें तो और गजब हो !

शाम होते ही मैं और बिस्मिल्ला दोनों सवार हो तहसीन गज गईं। मखदूम बख्श का मकान बड़ी मुश्किल से मिला। कहारों ने उनके दरवाजे पर आवाज दी। एक छोटी-सी लड़की अन्दर से निकली। उससे मालूम हुआ कि मखदूम बख्श घर पर नहीं है। नवाब के बारे में पूछा। उसने कहा, वह सुबह से कहीं गए

हुए हैं, अभी तक नहीं आये। हमने दो घण्टे तक इन्तजार किया, न नवाब साहब आये, न मखदूम बख्श। आखिर मायूस होकर घर लौट आई।

दूसरे दिन सुबह को मखदूम बख्श नवाब को ढूढता हुआ आया। मालूम हुआ कि नवाब रात को भी उसके मकान पर नहीं गए। शाम को उनकी माता की वही बुढिया दासी जो एक दिन खानम के पास आई थी, रोती-पीटती आई। उससे भी यही खबर मिली कि नवाब का कहीं पता नही है : बेगम साहब ने रो-रो अपना बुरा हाल कर लिया है और बडे नवाब भी बहुत चिंता मे हैं।

इस बात को कई दिन बीत गए और नवाब छब्बन का कही पता नही मिला। चार-पांच रोज बाद छब्बन साहब की अगूठी नखास मे बिकती हुई पकड़ी गई। बेचने वाले को अलीरजा बेग कोतवाल के पास ले गए। उसने बताया कि मुझे इमाम बख्श साक़ी के लड़के ने बेचने को दी है। इमाम बख्श साकी का लड़का तो नही मिला, खुद इमाम बख्श पकड़ बुलाया गया। पहले तो इमाम बख्श साफ मुकर गया कि वह अगूठी के बारे में कुछ नही जानता आखिर जब मिर्जा ने खूब डांटा और धमकाया तो मान गया।

इमाम बख्श—हुजूर, मैं दरिया के किनारे लोहे के पुल के पास हुक्का पिलाता हूं, और जो लोग दरिया में नहाने आते हैं, उनके कपड़ों की रखवाली करता हूं। पांच दिन पहले की बात है, एक शरीफजादे कोई बीस-बाईस बरस की उम्र होगी, गोरे-से बहुत खूबसूरत नौजवान थे, शाम को पक्के पुल पर नहाने आए। कपड़े उतार कर मेरे पास रख दिये, मुझ से लूगी लेकर बाधी, खुद दरिया में कूद पड़े। थोडी देर नहाते रहे, फिर मेरी नजरों से ओझल हो गए। और सब लोग नहा-नहा कर दरिया से निकले, कपड़े पहन-पहन कर अपने घरों को रवाना हुए। वह साहब नही आए। मैं पहले तो यह समझा कि तैरते हुए किसी तरफ निकल गए होंगे, पर बड़ी देर हो गई। मैं इस आसरे कि अब आते हैं, अब आते हैं! रात गए तक बैठा रहा, आखिर मुझे यकीन हो गया कि डूब गए! अब दिल में यह सोचा कि अगर किसी को खबर करता हूं तो झगड़ो मे फंस जाऊंगा। खिचा-खिचा फिरूंगा! इससे अच्छा है कि चुप रहूं। उनके कपड़े उठाकर घर पर ले आया। जेब मे से यह अंगूठी निकली। एक और अंगूठी है, उसपर खुदा जाने क्या लिखा है! मैंने मारे डरके आजतक किसी को नही दिखाई। मैं तो इस अंगूठी को भी नही बेचता, मगर मेरा लड़का शोहदा हो गया है—वह ...

ले गया।

मिर्ज़ा अलीरज़ा बेग ने दो सिपाही कोतवाल के साथ भेजकर वह अंगूठी और कपड़े उसके घर से मंगवाये। अंगूठी मुहर की थी। मिर्ज़ा अलीरज़ा बेग ने इस घटना की खबर बड़े नवाब को दी—कपड़े और दोनों अंगूठियां घर भिजवा दीं। इमाम बख़्श को सज़ा हो गई।

बिस्मिल्ला—हां ! आखिर नवाब छब्बन साहब डूब गए ! मैं तो सच कहूं, अम्मा जान की गरदन पर उनका खून हुआ।

मैं—अफसोस ! मेरे तो उसी दिन दिल में खटक गई थी, इसीसे उस दिन उनके साथ उठी थी कि कुछ समझा दूंगी, मगर वह जीने से उतर ही गये !

बिस्मिल्ला—उनके सर पर मौत सवार थी। खुदा गारत करे बड़े नवाब को। न उनको जायदाद से बेहक़ करते न वह अपनी जान देते !

मैं—खुदा जाने, मा का क्या हाल हुआ होगा !

बिस्मिल्ला—सुना है, बेचारी पागल हो गई हैं।

मैं—जो न हो कम है। यही तो एक अल्लाह का दिया लड़का था ! एक तो बेचारी विधवा, दूसरे यह आफत उनके सर पर टूट पड़ी। सच पूछो तो उनका घर ही तबाह हो गया।

रुसवा—तो नवाब छब्बन साहब को आपने डुबो ही दिया ! अच्छा यहां एक बात और पूछूं ?

मैं—पूछिए !

रुसवा—नवाब साहब तैरना जानते थे या नहीं ?

मैं—क्या मालूम ! यह आप क्यों पूछते हैं ?

रुसवा—इसलिए कि मुझे मीर मछली साहब ने एक नुकता बता दिया था कि जो आदमी तैरना जानता हो, वह जान-बूझकर नहीं डूब सकता।

९

कुछ उनको इम्तिहाने-वफ़ा से ग़रज़ न थी
इक ज़ार-ओ-नातवां के सताने से काम था !

उमराव—मिर्जा रुसवा साहब, आपको किसी से इश्क भी हुआ है ?

रुसवा—जी नहीं, खुदा न करे ! आपको तो सैकड़ों से इश्क हुआ होगा ! आप अपना हाल कहिये। ऐसी बातें सुनने को ही तो हम उत्सुक हैं। मगर आप कहती ही नहीं।

उमराव—मेरा तो वेश्या का पेशा है और यह हम लोगों की एक आम बात है कि जब किसी को अपने चंगुल में फंसाना चाहती हैं तो उस पर मरने लगती हैं। हमसे ज्यादा मरने की कला किसे आती है ? ठण्डी सांसें भरना, बात-बात पर रो देना, दो-दो दिन खाना न खाना, कुए में पैर लटका कर बैठ जाना, संखिया खा लेना—यह सबकुछ किया जाता है। कैसा ही सख्त-दिल आदमी क्यों न हो, हमारे धोखे में आ ही जाता है। मगर आपसे सच कहती हूं कि न मुझ से किसी को इश्क हुआ, न मुझ को किसी से। हां, बिसमिल्ला जान को इश्कबाजी में बड़ा कमाल था। इन्सान तो इन्सान, फरिश्ता इनके जाल से नहीं निकल सकता था। हजारों इनके आशिक थे, और हजारों पर वह आशिक थी। सच्चे चाहने वालों में एक बुजुर्ग मौलवी साहब का भी चेहरा था। ऐसे-वैसे मौलवी न थे, अरबी की ऊंची-ऊंची किताबों का पाठ पढते थे, दूर-दूर से लोग उनसे पढ़ने आते थे। धर्म-दर्शन मे उनकी टक्कर का दूसरा न था। उस समय उनकी आयु सत्तर से कुछ कम थी। नूरानी चेहरा, सफेद दाढी, सिर मुंडा हुआ, उसपर भारी मौलाना पगडी, लम्बा अगरखा, हाथ मे छड़ी। उनकी सूरत देखकर कोई नहीं कह सकता था कि आप एक छटी हुई चंचल नौजवान वेश्या पर बुरी तरह फिदा हैं।

एक दिन की बात है—इसमें किसी तरह की झूठ या मिलावट न समझिए, बिल्कुल सही-सही है—आप के दोस्त...स्वर्गीय मीर साहब जिनका दिलबर जान से सम्बध था, खुद शायर थे और अच्छी-अच्छी शेरों पर जान देते थे—और इसी सिलसिले मे हुस्नपरस्ती का भी शौक था—लेकिन उचित सीमा तक ! शहर की प्रतिष्ठित वेश्याओं मे कौन ऐसी थी, जहां वह न जाते हों।

रुसवा—जी हां, कहिए, मैं खूब जानता हूं, खुदा उन्हें नेकी दे।

उमराव—वह भी इस अवसर पर मौजूद थे। शायद आपको याद बिसमिल्ला जान खानमसे लड़कर कुछ दिनों के लिए उस मकान में जाकर रहीं जो बजाजे के पिछवाड़े था।

रुसवा—मैं उस मकान पर कभी नहीं गया।

उमराव—खैर,बिस्मिल्ला को देखने और साथ ही इस ग़रज़ से कि मां-बेटी में मिलाप करा दूं, मैं अक्सर वहां जाया करती थी। एक दिन लगभग शाम को सेहन में तख़्तों के चौके पर गाव तकिये से लगी बैठी थीं। मीर साहब उनके पास बैठे थे, मौलवी साहब सामने घुटनों के बल बैठे थे। उस समय की उनकी बेकसी की सूरत मुझे कभी नहीं भूलेगी। वह ज़ैतून की माला फेरते चुपके-चुपके शायद 'या हफ़ीज़,' 'या हफ़ीज़' पढ़ रहे थे। मैं जो गई तो बिस्मिल्ला ने हाथ पकड़कर मुझे अपने बराबर बिठा लिया। मैं मीर साहब और मौलवी साहब को तसलीम करके बैठ गई। बिस्मिल्ला ने चुपके से मेरे कान में कहा—'तमाशा देखोगी?' मैं हैरान होकर बोली, 'क्या तमाशा?' बिस्मिल्ला, 'देखो'—यह कहकर मौलवी साहब से मुख़ातिब हुई। मकान के सेहन में एक बहुत पुराना नीम का पेड़ था। मौलवी साहब को हुक्म हुआ कि इस पेड़ पर चढ़ जाओ।

मौलवी साहब के मुंह पर हवाइयां उड़ने लगीं, थर-थर कांपने लगे। मैं हंस-हंस कर ज़मीन पर गिरी जाती थी, मीर साहब मुंह फेर कर बैठ गये। मौलवी साहब बेचारे कभी आसमान को देखते थे, कभी बिस्मिल्ला की सूरत को। एक बार हुक्म हुआ, दूसरा पहुंचा और फिर तीसरा कड़ा—"चढ़ जाओ, कहती हूं!"

मौलवी साहब बिस्मिल्ला कहकर उठे,पगड़ी को तख़्तों के चौक पर छोड़ा। नीम की जड़ के पास जाकर खड़े हुए। फिरएक बार बिस्मिल्ला की तरफ देखा। उसने भवें चढ़ाकर कहा—'हूं!'

मौलवी साहब पाजामा चढ़ाकरपेड़ पर चढ़ने लगे। थोड़ाचढ़कर बिस्मिल्ला की तरफ देखा—शायद इसलिए कि बस या और? बिस्मिल्ला ने कहा, 'और।' मौलवी साहब और बढ़े, फिर हुक्म का इन्तज़ार किया। फिर वही 'और।' इस तरह वह पेड़ की फुंगी के पास पहुंच गए। अब अगर और ऊपर जाते तो शाखें इतनी पतली थीं कि ज़रूर गिर पड़ते और जान चली जाती। बिस्मिल्ला की ज़बान से अब भी 'और' निकलने को ही था कि मैं उसके पांव में गिर पड़ी, मीर-साहब ने भी बड़ी मिन्नत के साथ सिफारिश की, तब कहीं हुक्म हुआ कि उतर आओ। मौलवी साहब चढ़ने को तो चढ़ गए, मगर उतरने में बड़ी कठिनाई हुई। मुझे तो ऐसा लगता था कि अब गिरे, अब गिरे! मगर सकुशल उतर आए।

बेचारे पसीना-पसीना हो गए। दम फूल गया, करीब था कि गिर पड़ें। मगर अपने को संभाल कर, पगड़ी पहन कर तख्त के पास आए और चुपके-से बैठ गए। माला फेरने लगे। बैठ तो गए, मगर किसी ढब भी चैन न था। चीटियां उनके पाजामे में घुस गई थी, इससे बहुत परेशान थे।

रुसवा—भई वाह ! बिस्मिल्ला भी अजीब दिल्लगीबाज़ रंडी थी !

उमराव—दिल्लगी की क्या बात है ! वह निठुर चुपकी बैठी थी। मुस्कान तक का कही चिह्न नही। मेरे और मीर साहब के हंसी से दम निकले जा रहे थे। अजीब हैरानी छाई थी;

रहे क्यों कोई तरज़े सितम बाकी ज़माने में
मज़ा आता है काफिर को उलफत आज़माने में।

रुसवा—यह उक्ति उम्र भर हंसने के लिए काफी है। आखों में दृश्य लाने की शर्त है। तुमने बयान किया और मेरी आंखों के सामने बिस्मिल्ला, मौलवी साहब और उनकी पवित्र सूरत, मीर साहब, तुम, आगन, नीम का पेड़ इन सब की तस्वीरें खिंच गईं। यह तो कुछ ऐसी घटना है कि एकदम हसी भी नही आती। अच्छा, ध्यान दू तो हसू ! न साहब ! मुझे हसी नही आती। मौलवी साहब की बेवकूफी पर रोना आता है। बेशक बिस्मिल्ला कयामत की वेश्या थी ! सत्तर बरस का बूढा— उसपर यह हुक्म—पेड़ पर चढ़ जाओ ! और वह भी चढ़ गए ! मेरी कुछ समझ में नही आता। बड़ा टेढ़ा मामला है।

उमराव—वाकई आप नहीं समझ सकते। इसमे कयामत की बारीकी है ! आखिर बयान ही करना पडा।

रुसवा—कहिए, क्या कुछ और बुराई बाकी है ?

उमराव—अभी बहुत-सी ऐसी बातें बाकी हैं, लो सुनो : मौलवी साहब के जाने के बाद मैंने बिस्मिल्ला जान से पूछा था, "बिस्मिल्ला, यह तुझे क्या हुआ था ?"

बिस्मिल्ला—क्या ?

मैं—सत्तर बरस का बुड्ढ़ा ! और जो पेड़ से गिर पड़ता तो मुफ्त में खून होता।

बिस्मिल्ला—हमारी बला से खून होता ! मैं तो इस मुए बुड्ढे से जली हुई थी। कल मेरी धन्नो को इस ज़ोर से पटखा कि हड्डी-पसली टूट गई होती।

बात यह थी कि बिस्मिल्ला जान ने एक बंदरिया पाली थी। वह बड़ी सुहागिन बना रखी थी। जरा उसके ठाठ सुन लीजिए। जरी की घघरिया, बेल-बूटे का ब्लाउज, जाल की ओढ़नी, चांदी की चूड़ियां, गले में हार, पांव में घुंघरू, सोने की बालियां, जलेबियां-इमरतियां खाने को। जब मोल ली थी तो मुई जरा-सी थी। दो-तीन बरस में खूब खा-खा के मोटी हो गई थी। जो लोग जानते थे, वो तो खैर। अजनबी आदमी पर जा पड़े तो घिग्घी बंध जाय। जोर भी इतना था कि अच्छे मरद का हाथ पकड़ ले तो छुड़ाए न छूटे।

जिस दिन मौलवी साहब नीम पर चढ़ाए गए थे, उससे एक दिन पहले की बात है कि आप तशरीफ लाए। तख्तों के चौकों पर बैठे थे कि बिस्मिल्ला जान को मसखरापन सूझा! घन्नो को इशारा किया। वह पीछे से चुपचाप आई और उचककर मौलवी साहब के कंधे पर जा बैठी। मौलवी साहब ने जो मुड़कर देखा, बेचारे घबरा गए। बंदरिया को जोर से झटक दिया। वह तख्त के नीचे गिर पड़ी या मैं तो समझती हूं, खुद चली गई होगी। बंदरिया मौलवी साहब पर गुर्राने लगी। उन्होंने लाठी दिखाई। बंदरिया डरकर बिस्मिल्ला की गोद में जा बैठी। बिस्मिल्ला ने उसे तो चुम्कार कर दुप का आंचल ओढ़ा दिया और मौलवी साहब को खूब दिल खोलकर कोसा—गालियां दीं। इसपर भी सब्र न आया तो दूसरे दिन यह सजा दी।

रुसवा—सजा मुनासिब थी।

उमराव—मुनासबत में तो कोई शक नहीं! मौलवी साहब को लंगूर बना दिया!

रुसवा—वाकई मौलवी साहब इसी काबिल थे! मजनूं ने तो लैला के सोते को प्यार करके गोद में उठा लिया था और मौलवी साहब ने बिस्मिल्ला जान की चहेती बंदरिया को पहले तो झटक दिया, फिर यह बेअदबी की कि उसे लाठी दिखाई! यह तो इश्क की शान के बहुत खिलाफ था!

एक दिन रात के आठ बजे मैं बिस्मिल्ला जान के कमरे में थी। बिस्मिल्ला गा रही थी, मैं तानपूरा छेड़ रही थी, खलीफाजी तबला बजा रहे थे। इतने में मौलवी साहब तशरीफ़ ले आए।

बिस्मिल्ला—(देखते ही) आठ दिन से तुम कहां थे?

मौलवी साहब—क्या कहूं, मुझे तो ऐसा जोर का बुखार हुआ कि बचना

मुश्किल था, मगर तुम्हारा दीदार करना था, इसलिए बच गया।

बिस्मिल्ला—तो यह कहिए कि वसाल हो गया होता।

इस वाक्य ने मुझे और खलीफा जी को उत्तेजित कर दिया।

मौलवी साहब—जी हां, आसार तो कुछ ऐसे ही थे।

बिस्मिल्ला—बहुत अच्छा होता!

मौलवी साहब—मेरे मरने से आपको क्या लाभ होता?

बिस्मिल्ला—जी! आपकी उर्स में हर साल जाया करते, गाते-नाचते, लोगों को रिझाते! आपका नाम रौशन करते!

इसी तरह कुछ बातों के बाद फिर गाना शुरू हुआ। बिस्मिल्ला ने अवसरानुरूप यह गजल शुरू की—

मरते-मरते न कजा याद आई। उसी काफिर की अदा याद आई॥

मौलवी साहब पर मस्ती छाई थी—आंसुओं का तार बंधा हुआ था, टपटप गालों से टपक रहे थे! इतने में सामने वाला दरवाजा खुला और एक साहब—गंदमी रंग, गोल चेहरा, स्याह दाढ़ी, मंझोला कद, कसरती बदन, कामदार तंग अंगरखा पहने हुए, खुले पायचों का पाजामा, मखमली बढ़िया जूता, चिकन का रुमाल ओढे हुए—दाखिल हुए। बिस्मिल्ला ने देखते ही कहा, "वाह साहब! उस दिन के गए. आप आज आए हैं, लो, बस टहलो! मैं ऐसी आशनाई नहीं रखती! और वे लाल ताकी गरंट के ताके कहां हैं? इसी से तो आपने मुह छुपाया!"

वह साहब: (लज्जित-से) नहीं सरकार! यह बात नहीं है। उस दिन से मुझे फुर्सत ही नहीं मिली। पिता जी की तबियत बहुत खराब थी। मैं उनकी देखभाल में लगा रहा।

बिस्मिल्ला: जी हां, आप ऐसे ही आज्ञाकारी हैं! मुझे यकीन है! यह नहीं कहते कि बब्बन की छोकरी पर फिदा हैं और रात को वहीं की महफिल में हाजिर होते हैं। मुझे सब खबरें मिल जाती हैं! हम से बहाने होते हैं—तबीयत खराब थी!

उस आवाज को सुनकर एक बार मौलवी साहब ने पीछे मुड़कर देखा। आंखों से आंखें मिलीं। मौलवी साहब ने तुरन्त मुह फेर लिया। उन साहब का तो रंग ही उड़ गया, हाथ-पांव थर-थर कांपने लगे। जल्दी से दरवाजा खोल

कमरे के नीचे दम लिया। बिस्मिल्ला पुकारती रह गई। उन्होंने जवाब तक न दिया ! बिस्मिल्ला भी पहले तो कुछ समझ कर चुप-सी हो गई, फिर एकदम त्योरी चढ़ाकर आप ही आप कहने लगी—'अच्छा, फिर देखूंगी।' और यह कहकर गाने में लग गई। उस दिन के बाद मैंने उनको कभी बिस्मिल्ला के पास आते नहीं देखा ! मौलवी साहब बराबर आते रहे।

रुसवा—जी हां, पहले जमाने के लोग ऐसे ही शीलवान होते थे।

गाना हो रहा था कि इतने में गौहर मिर्जा शायद यह सुनकर कि मैं वहां हूं यहीं चले आए। उनका बिस्मिल्ला के साथ हंसी-मजाक चलता था—गाली-गलौच से लेकर मार-पीट तक नौबत पहुंच जाती थी। मैं ऐसी छिछोरी न थी कि बुरा मानती। गौहर मिर्जा मेरे और बिस्मिल्ला के बीच में बैठ गया और अब से बिस्मिल्ला के गले में हाथ डाल दिया।

गौहर मिर्जा—आप खुद गा रही हो, जी चाहता है……

अब जो देखती हूं तो मौलवी साहब के माथे की झुर्रियों में हरकत होने लगी। एक बार गौहर मिर्जा की निगाह मौलवी साहब पर जा पड़ी। पहले तो ध्यान से सूरत देखी, फिर अपना कान जोर से पकड़ा, झिझक कर पीछे हटा—लगता था कि डर गए ! बिस्मिल्ला इस पर जोर से हंस पड़ी, खलीफा जी भी मुस्कराने लगे। मैंने मुंह पर रुमाल रख लिया मगर मौलवी साहब बहुत नाराज ! करीब था कि उठ जायं, मगर बिस्मिल्ला ने कहा, 'बैठो।' बेचारे फिर बैठ गए। बिस्मिल्ला भी क्या ही दुष्ट थी ! मौलवी साहब को यह जता रही थी कि गौहर मिर्जा मेरे चाहने वाले हैं ताकि मौलवी साहब देखकर जलें। गौहर मिर्जा ने फिर हंसी-मजाक शुरू किया। बड़ी देर तक मौलवी साहब को इसी धोखे में रखा। और उनका यह हाल जैसे कोई अंगारों पर लोट रहा हो ! मुझसे जाते थे ! मारे हंसी के मेरे पेट में बल पड़ रहे थे। आखिर मौलवी साहब की बेकसी पर मुझे रहम आया। मैंने भांडा फोड़ दिया। इससे बिस्मिल्ला मुझ से नाराज हो गई ! मैंने गौहर मिर्जा को सम्बोधित कर कहा, "लो, बहुत मनचलापन कर चुके, अब चलो !"

अब मौलवी साहब को मालूम हो गया कि गौहर मिर्जा का मुझ से सम्बन्ध है, बिस्मिल्ला से कोई वास्ता नहीं, बहुत ही खुश हुए, बाछें खिल गईं।

रुसवा : मौलवी साहब का तो पवित्र प्रेम था ना !

उमराव : हां, पवित्र प्रेम था !
रुसवा : फिर उनको जलना न चाहिए था।
उमराव : वाह ! क्या पवित्र प्रेम मे ईर्ष्या नहीं होती ? होती है !
रुसवा : तो पवित्र प्रेम न होगा।
उमराव : अब यह उनका ईमान जाने, मैं तो यही समझती थी।

१०

खानम की नवेलियों में यूं तो मेरे सिवा हरेक अच्छी थी मगर खुर्शीद का जवाब न था। परी कीसूरत थी। रंगगुलाबी। जवानी औरनाक-नक्शऐसे मानो विधाता ने अपने हाथ से बनाया था। आखों में ऐसा प्रतीत होता था कि मोती कूट-कूटकर भर दिये हैं। हाथ-पाव सुडौल, नूर के सांचे में ढले हुए ! भरे-भरे बाजू, गोल कलाइयां, वेश-भूषा वह कयामत की कि जो पहनती—ऐसा फबता कि यह उसी के लिए था। चित्ताकर्षक अदाएं, वह भोलापन जो एक नजर देखे, हजार जान से फिदा हो जाय ! जिस महफिल में जाकर बैठ गई, मालूम हुआ कि एक शमा रौशन हो गई। बीसों मेंनजर उसी परपड़ती थी। यह सब कुछ था, पर भाग्य की हेठी थी। भाग्य को भी क्यों दोष दिया जाय,खुद अपने हाथों उम्र-भर खराब रही। सच तो यह है कि वह वेश्यापन के लायक थी ही नहीं। बैसवाड़े के एक जमींदार की लडकी थी। सूरत से शराफत टपकती थी। हुस्न खुदा का दिया था। पर इस रूप पर खब्त यह था कि कोई मुझ पर आशिक हो। यू तो स्वयं ही प्यार करने योग्य थी—कौन ऐसा होगा जो उस पर फिदा न हो जाता। पहले-पहल प्यारे साहब को मुहब्बत थी। हजारों रुपये वार दिये। वाकई जान देते थे। खुर्शीद ने भी उन्हें अच्छी तरह कसा। जब विश्वास हो गया कि सच्चा प्रेमी है तो खुद जान देने लगी। दिन-दिन भर खाना छोड़े रहती, अगर किसी दिन आने मे देर हो जाती तो बैठी ज़ार-ज़ार रोती रहती। हम सबने समझाया भी, "देखो खुर्शीद, ऐसा न करो, मरदवे बेमरुवत होते हैं। तुम्हारी इनसे केवल आशनाई है। भला आशनाई की बुनियाद क्या ? निकाह नहीं हुआ, ब्याह नहीं हुआ ! ऐसा चाहोगी तो अपना ही बुरा करोगी और पछताओगी ?"

हमारा कहा सही निकला। प्यारे साहब ने जब देखा कि वेश्या प्यार करती है, तो लगे कन्नी काटने। कहां तो आठों पहर बैठे रहते थे, कहां अब दो-दो दिन नहीं आते। खुर्शीद जान दिये थी, रोती-पीटती, खाना न खाती। अजब हाल था। खानम को उसकी सूरत से नफरत हो गई। यहां तक कि आना-जाना, खाना-पीना, आदमियों की तनख्वाह सब बंद कर दी गई।

मैं नहीं समझ सकती कि इस हुस्न के साथ उसके दिल में इतना इश्क किसने भर दिया था! सच तो यह है कि यदि वह किसी मरद की जोरू होती तो खूब निबाह होता। उम्र भर मरद पांव धो-धोकर पीता—बशर्ते कि कदरदान होता। बिस्मिल्ला खुर्शीद के तलवों की भी बराबरी नहीं कर सकती थी, फिर भी बिस्मिल्ला का वह घमंड, तमकना, नाक-भौं चढ़ाना कि खुदा बचाये! मौलवी साहब का हाल तो आप सुन ही चुके हैं, और आशनाओं से भी उसका सलूक कुछ अच्छा न था। असल तो यह कि उसे अपनी मां की दौलत का बड़ा घमंड था। वाकई दौलत थी भी बेहद! अपने आगे किसी की हस्ती ही न समझती थी! खुर्शीद से खानम को बड़ी उम्मीदें थीं। वाकई यदि उसमें वेश्यापन होता तो लाखों पैदा करती। हुस्न और खूबी तो थी, पर गला बिल्कुल न था, नाचने में भी बिल्कुल फूहड़ थी, सिर्फ सूरत ही सूरत थी। शुरू-शुरू में मुजरे बहुत मिले, पर जब मालूम हुआ कि गाने-नाचने की तमीज नहीं तो लोगों ने बुलाना छोड़ दिया। जो आता था केवल सूरत पर खिंचा आता था। अच्छे-अच्छे मरते थे। मगर जब आकर देखते कि मुंह सुजाये बैठी हैं, इश्क सर पर सवार है, हरेक से बेरुखी, बेमुरौवती! यह हालत देखकर लोगों ने आना भी छोड़ दिया। अब केवल प्यारे साहब ही रह गये थे। उधर तमाशा देखिए; प्यारे साहब के वालिद पर शाही कोप पड़ा। घर जब्त हो गया, जागीर छीन ली गई। बेचारे मोहताज हो गये। यह सब हुआ, मगर खुर्शीद के इश्क में कमी न हुई। अब यह जिद्द हुई कि मुझे घर में बिठा लो। प्यारे साहब ने कुल के ख्याल से या यूं कहूं कि बाप के डर से घर बिठाना मंजूर न किया। खुर्शीद की आस टूट गई।

खुर्शीद बहुत ही भोली औरत थी। लोग फुसला-फुसलाकर सैंकड़ों रुपये खा गये। साधु-फकीरों पर बड़ा विश्वास था। एक दिन एक शाह साहब तशरीफ लाये। वो एक के दो करते थे! खुर्शीद ने अपने कड़े और कंगन की जोड़ियां उतार दीं। शाह साहब ने एक कोरी हांडी मंगाई। उसमें स्याह तिल भरवाये।

कड़े-कंगन हाडी में रखकर चपनी ढाक दी। लाल टूल का कपड़ा ढक्कन पर नाड़े से बांध दिया। शाह साहब रवानाहुए। चलते-चलते कह गये कि आज न खोलना, कल सुबह खोलना, गुरु के हुक्म से एक के दो हो जायेंगे। सुबह को हाडी खोली गई, काले तिलों के सिवा कुछ न मिला?

एक जोगी ने काले नाग का फन मुंह से निकाल कर दिखाया कि यह तुझे परसों आकर डस लेगा। वो खुर्शीद ने झट कानों से पत्ते-बालियां उतार कर हवाले कर दी। खुर्शीद को गुस्सा तो कभी आता ही न था। ऐसी नेक-दिल और नेक स्वभाव की औरतें रंडियों मे तो क्या, कुल-बहू-बेटियों में भी कम होती हैं। मगर हां, एक दिन उन्हें गुस्सा आया! जिस दिन प्यारे साहब मांझे का जोड़ा पहन कर आये। पहले तो चुपकी बैठी रही. थोड़ी देर के बाद गालो पर सुर्खी प्रकट हुई, फिर शनैः शनैः सुर्ख भभूका हो गए। उठी और मांझे का जोड़ा पुर्जा-पुर्जा कर डाला! अब रोना-पीटना, चिल्लाना शुरू हुआ, दो दिन तक रोई-पीटी। तमाम दुनिया ने समझाया, कुछ न मानी। आखिर बुखार आने लगा। दो महीने बीमार रही। लेने के देने पड़ गये। हकीमों ने तपेदिक बताई। मगर खुदा की कृपा से एक महीने के बाद अपने आप मिज़ाज ठीक हो गए। अब प्यारे साहब से वास्ता टूट गया। और लोगों में भी किसी से दिल न लगा और न किसी का उनसे। क्योंकि बेपरवाही और बेमुरोवती हद से ज्यादा बढ़ी हुई थी—ज़ाहिरा लोगो से मिलती थी, पर दिल न मिलता था।

११

सावन का महीना है। तीसरे पहर का समय है। पानी बरस कर खुल गया है। चौक के कोठों और ऊंची दीवारो पर जगह-जगह धूप है। बादलों की टुकड़ियां आकाश पर इधर-उधर आती-जाती नज़र आती हैं। पश्चिम की तरफ क्षितिज रंग-बिरंगा फूला है। चौक में शहर के सफेदपोशों का जमाव बढ़ने लगा है। आज ज्यादा जमाव का एक वजह यह भी थी कि जुमे का दिन है, लोग ऐश-बाग के मेले में जाने को तेज कदम उठाये चले जा रहे हैं। खुर्शीद, अमीर ७. बिस्मिल्ला और मैं मेले जाने के लिए बन-ठन रही हैं—धानी दुपट्टे अभी

रंग कर दे गया है, वे चुने जा रहे हैं। बालों में कंघी हो रही है, चोटियां गूंधी जा रही हैं, भारी जेवर पहनने को निकाले जा रहे हैं। खानम साहब सामने चौके पर गाव तकिये से लगी बैठी हैं, बुआ हुसैनी अभी हुक्का तैयार करके पीछे हटी हैं। खानम साहब के सामने मीर साहब बैठे हैं। मेले जाने पर ज़ोर दे रहे हैं, खानम कहती हैं, आज मेरी तबीयत सुस्त है, मैं नहीं जाऊंगी। हम लोग दुआएं माग रहे हैं कि खुदा करे न जायं तो मेले की बहार है।

खुर्शीद पर उस दिन ग़ज़ब का जोबन छाया था। गोरी रंगत मलमल के धानी दुपट्टे से फूटी निकल रही थी, बड़े-बड़े पायचों का ऊदी रेशमी पाजामा संभाले न संभलता था। तंग ब्लाऊज़ कयामत ढा रहा था। हाथ-गले में हल्का-हल्का जेवर था, नाक में हीरे की कील, कान में सोने की बालियां, हाथ में कड़े, गले में मोतियों का कंठा! कमरे में सामने बड़ा शीशा लगा था, वह उसमें अपनी सूरत देख रही थी। क्या कहूं, क्या सूरत थी! अगर मेरी सूरत वैसी होती तो अपनी छाया की आप बलाएं ले लेती। मगर खुर्शीद को गम यह है कि इस सूरत पर मुग्ध होने वाला नहीं! प्यारे साहब से बिगाड़ हो ही चुका था! चेहरा उदास-उदास था। हाय! वह उदासी भी गज़ब ढा रही थी! अच्छी सूरत वालों का सबकुछ अच्छा मालूम होता है। उस समय उस परी की सूरत देखने से दिल पिसा जा रहा था। अपने दिल की हालत की ओर तो कोई उपमा समझ नहीं आती, ऐसा मालूम होता था कि किसी अच्छे शायर का कोई दर्द-भरा शेर सुना है और दिल उसके मजे ले रहा है।

बिस्मिल्ला की सूरत भी ऐसी बुरी न थी। खिलता हुआ सांवला रंग, किताबी चेहरा, सीधी लम्बी नाक, बड़ी आखें, स्याह पुतली, छरेरा बदन, बूटा-सा कद, बेलबूटों का जरी का जोड़ा पहने, काई रंग की करेप का दुपट्टा—बनत टकी हुई। पीला रेशमी पाजामा, अमूल्य जेवर—सर से पांव तक गहनों में लदी हुई, इस पर फूलों के गहने और! बिल्कुल नई दुल्हन मालूम होती थी। फिर बात-बात में चंचलता और शरारत! मेले में पहुंचकर किसी को मुंह चिढ़ा दिया, किसी से आख लड़ाई, जब वह देखने लगा तो मुंह फेर लिया! हां, यह कहना भूल गई कि हम लोग बनाव-श्रृंगार करके पालकियों में सवार हो मेले में पहुंचे।

मेले में वह भीड़ थी कि अगर थाली फेंको तो सरों पर लुढ़कती रहे। जगह

जगह खिलौने वालों, मिठाई वालों की दुकानें, खोंचे वाले, मेवा फरोश, हार बेचने वाले, तम्बोली, हुक्का-धारिणियां गरज जो कुछ मेलो मे होता है, सब कुछ था। मुझे तो और किसी चीज से काम नही, लोगों के चेहरे देखने का हमेशा से शौक है। खासकर मेले-तमाशों मे। सुखी-दुःखी, गरीब-अमीर, बेवकूफ-अक्लमंद, विद्वान-जाहिल, शरीफ-बदमाश, सखी-सूम—यह सब हाल चेहरे से खुल जाता है। एक साहब हैं कि अपने तनजेब के अंगरखे और ऊँची सदरी, नोकदार टोपी, चुस्त ब्रिजिस और मखमली चढवे जूते पहने इतराते हुए चले आ रहे हैं ! कोई साहब है संदली रंगा हुआ दुपट्टा, सर पर आड़ा बाधे हुए रंडियो को घूरते-फिरते हैं ! एक साहब आये तो हैं मेला देखने, मगर बहुत ही जले-भुने से, गुस्से में कुछ चुपके-चुपके बुड़बुडाते भी जाते हैं। ऐसा मालूम होता है जैसे बीवी से लड़कर आये हैं। और जिन बातों के जवाब समय पर नही सूझे थे, अब याद कर रहे हैं। कोई साहब अपने छोटे-से लड़के की उँगली पकडे उससे बातें करते चले आते हैं। हर बात मे 'मां' का नाम आता है—अम्मा खाना पकाती होंगी, मा का जी खराब है, अम्मां सो रही होगी, अम्मा जागती होगी। बहुत शरारत न किया करो, नही तो अम्मां हकीम के यहा चली जावेंगी। एक साहब सात-आठ बरस की लडकी को लाल कपडे पहना कर लाए हैं, कंधे पर चढाये हुए हैं, नाक में नन्ही-सी नथनी है। ऊँची चोटी गुंथी हुई, लाल रिबन बन्धे हुए। हाथो मे चादी की चूड़िया हैं, बच्ची के दोनों हाथ जोर से पकडे है। कही कोई चूड़िया न उतार ले। बच्ची की कलाइयां दुखी जाती हैं, कहिए फिर चूडिया पहनाकर लाना ही क्या जरूरी था ?

लीजिए एक और दूसरे साहब ! इनके यार-दोस्त भी साथ हैं। फरमाइशी गालियां चल रही हैं—"अमा, पान तो खाओ !" खट-से पैसा तम्बोली की दूकान पर फेंका। मालूम हुआ कि आप बडे अमीर हैं, पैसा-दो-पैसा आपके आगे क्या चीज है ! तभी हुक्का वाले को भी आवाज़ दे दी, "भाई साकी, इधर आना। हुक्का सुलगा हुआ है ?" एक और यार आ मोजूद हुए ! मामूली गाली-गलौच के बाद मुलाकात, सलाम, बदगी, मिज़ाज-पुर्सी गहरे दोस्तों मे हुआ करती है—"अबे, पान तो खिलवा।" लुत्फ तो यह कि आप मुसलमान और यार हिन्दू ! जब तम्बोली ने पान दिये, झटके से बढा अपने हाथ ले लिए ! अब हिन्दू यार उनके हाथ के छुए पान कैसे खावे ! मुसलमान दोस्त बोला, "अबे, यार भूल गये !"

यह खिसियाने हुए। अपने टेंट से एक पैसा निकाला और तम्बोली से कहा, "लो भाई, हमें भी दो! इलायची भी डाल देना और चूना ज्यादे न हो।" फिर दोस्त से बोले, "अच्छा लो चिलम तो पिलवाओगे?" चिलम हुक्के से उतारने ही लगे थे कि साक़ी ने घूरकर देखा। तुरन्त हाथ से हुक्का और जेब से पैसा छोड़ देना पड़ा।

गौहर मिर्जा ने मोती झील के किनारे फर्श बिछवा दिया था। हम वहीं जाकर ठहरे। इधर-उधर पेड़ों के नीचे घूमते रहे! शाम से दो घड़ी रात गये तक मेले की सैर की। फिर घर चलने की ठहरी। अपनी-अपनी पालकियों पर सवार हुई। अब जो देखती हैं तो खुर्शीद जान की पालकी खाली थी! उनका कहीं पता न मिला। आखिर निराश घर वापस आये। खानम ने सुनते ही सर पीट लिया। तमामघर में शोक छा गया। मैं स्वयं रात-भर रोती रही। प्यारे साहब के मकान पर आदमी गया। वह बेचारे उसी वक्त दौड़े आये। हजारों कसमें खाईं, "मुझे बिल्कुल नहीं मालूम! मैं मेले में भी नहीं गया। बेगम की तबियत खराब है, जाता तो क्योंकर?" प्यारे साहब पर यही सदेह था। उनके कसमें खाने के बाद किसी को सन्देह नहीं रहा। बात यह थी कि शादी के बाद अपनी बीवी के ऐसे आधीन हो गये थे कि चौक का आना-जाना उन्होंने बिल्कुल छोड़ दिया था। रात को घर से निकलते ही न थे। खुर्शीद के गुम होने की खबर सुनकर कुछ पहली मुहब्बत के ख्याल से और कुछ खानम के लिहाज से न मालूम किस तरह चले आये थे।

खुर्शीद के गुम होने के डेढ महीने बाद एक साहब जिनका रंग-ढंग शहर के बांकों-जैसा था—सावला रंग, छरेरा बदन, एक दोशाला कमर में लपेटे और एक सर से बांधे, मेरे कमरे मे सीधे चले आये और आते ही सामने कालीन के सिरे पर बैठ गये। इससे मुझे लगा कि तबियत के कुछ कमीने हैं या अभी नये-नये हैं—रंडियो के यहां जाने का कम सयोग हुआ है। उस वक्त मैं अकेली बैठी थी। मैंने बुआ हुसैनी को आवाज दी। वह कमरे में आईं। उनके आते ही वह साहब उठ खड़े हुए और बिना कुछ संकोच के बुआ हुसैनी का हाथ पकड़ लिया। अलग ले जाकर कुछ बातें की, जो कुछ मैंने सुनी, कुछ नहीं सुनी। इसके बाद बुआ हुसैनी खानम साहब के पास गईं। वहां से आकर फिर बातें हुईं। आखिरी बात यह थी कि आपको एक महीने की तनख्वाह पेशगी देनी होगी। उन साहब ने कमर

से रुपयों की पोटली निकाली। बुआ हुसैनी ने झोली फैलाई। उन्होंने छन से रुपये फेंक दिये।

बुआ हुसैनी—ये कितने हैं ?

वह साहब—नहीं मालूम, गिन लीजिए !

बुआ हुसैनी . ऐ मुझे तो निगोड़ा गिनना भी नहीं आता।

वह साहब—मेरे ख्याल में शायद पचहत्तर रुपये होंगे—एक-दो कम हों या ज्यादा।

बुआ हुसैनी—मियां पचहत्तर किसे कहते हैं ?

वह साहब : तीन बीसी और पन्द्रह। पच्चीस कम सौ।

बुआ हुसैनी : पच्चीस कम सौ ! तो यह कितने दिन की तनख्वाह हुई ?

वह साहब : पन्द्रह दिन की। कल बाकी पन्द्रह दिन की दे दूंगा। पूरे डेढ़ सौ नकद आपको पहुँच जायेंगे।

यह नकद की सुनकर मुझे बहुत ही बुरा लगा। अब तो बिल्कुल ही यकीन हो गया कि यह ऐसे ही वैसे होंगे। मगर मजबूर, पेशा ही ऐसा था। दूसरे, पराये वश मे ! करती तो क्या करती !

बुआ हुसैनी रुपये लेकर खानम के पास गई। खानम इस समय न मालूम किस नेकी के मूड मे थी कि तुरन्त मान गई। बल्कि ताज्जुब हुआ कि बड़े-बड़े रईसो से रुपयों के बारे मे एक क्षण का भी लिहाज नहीं करती थी और अब एक दिन का वायदा मान लिया !

यह मामला तय होने के बाद वह साहब रात को मेरे ही कमरे मे ठहरे। कोई पहर रात बाकी होगी—मुझे ऐसा महसूस हुआ कि जैसे किसी ने कमरे के नीचे आकर दस्तक दी है। वह साहब तुरन्त उठ बैठे और कहा, "लो अब मैं जाता हूँ, कल रात को मैं फिर आऊँगा।" चलते समय पाँच अशर्फिया और तीन अंगूठिया—एक सोने की बढ़िया नगदार, एक फिरोजे की और एक हीरे की—मुझे दी और कहा, "यह तुम अपने पास रखना, खानम को न देना।" मैंने खुशी-खुशी हाथ मे पहनी और अपनी उँगलियां देखने लगी। बहुत ही खूबसूरत मालूम होती थी। फिर बक्सा खोला, अशर्फियों और अगूठियों को चोर खाने में रख दिया !

दूसरे दिन रात को फिर वही साहब आये। उस समय मैं संगीत सीख रही थी। वह एक किनारे आकर बैठ गये। गाना हो रहा था। उन्होंने पाँच

साजिन्दों को दिये। उस्ताद जी और सारंगिए खुशामद की बातें करने लगे। उस्ताद जी ने उनकी कमर में बंधा दोशाला ऐंठना चाहा। मुंह फाड़ के मांगा, मगर वार खाली गया, उन्होंने दिया नहीं।

वह साहब—उस्ताद जी, रुपया-पैसा जिस चीज को कहिए, हाजिर कर दूं, यह दोशाला मैं नहीं दे सकता, एक दोस्त की निशानी है।

उस्ताद जी अपना-सा मुंह लेकर चुप रह गये।

पाठ खत्म हुआ। बुआ हुसैनी को उन्होंने शेष पचहत्तर रुपये गिन दिये! पांच रुपये उन्हें अपनी तरफ से अलग दिये। बुआ चली गईं। जब कमरे में मैं और वह दोनों रह गये, तब मैंने पूछा, "आपने मुझे कहां देखा था, जो यह कृपा की!"

"दो महीने हुए, ऐशबाग के मेले में।"

"और फिर आये दो महीने बाद?"

"मैं बाहर चला गया था। अब फिर जाने वाला हूं।"

अब मैंने वेश्यापन की लगावट शुरू की, "तो हमें छोड़कर चले जाओगे?"

"नहीं, फिर बहुत जल्द चला आऊंगा।"

"और तुम्हारा मकान कहां है?"

"मकान तो फर्रुखाबाद में है, मगर यहां बहुत काम रहता है, बल्कि यहीं रहता हूं। कुछ दिनों के लिए बाहर चला जाता हूं, फिर आ जाता हूं!"

"और यह दोशाला किसकी निशानी है?"

"किसी की नहीं।"

"वाह! समझ गई! यह तुम्हारी किसी प्रेमिका की निशानी है!"

"नहीं, तुम्हारे सर की कसम, मेरा कोई आशना नहीं है। बस तुम्हीं हो जो कुछ हो।"

"तो फिर मुझे दे दो।"

"मैं नहीं दे सकता।"

यह बात मुझे बहुत बुरी लगी। इतने में उन्होंने बड़े-बड़े मोतियों की माला जिसमें जमर्रद की हाड़ें लगी थीं, एक जोड़ी हीरे के कड़े की और दो सोने की अगूठियां मेरे आगे रख दीं। यह सब मैंने खुशी-खुशी उठा लिया और बक्सा खोल कर रखने लगी। पर मुझे ताज्जुब यह हुआ कि यह हजारों का माल तो मुझे मुफ्त

दिए जा रहे है, मगर यह दोशाला जो ज्यादा-से-ज्यादा पांच सौ का होगा, इससे इन्कार कर दिया! वैसे मुझे वह दोशाला पसन्द भी नही था जो मैं आग्रह करती। अपने काम से मतलब था।

इन साहब का नाम फैज़ अली था। डेढ़ पहर रात गए आते थे और कभी आधी रात को, कभी पिछले पहर से उठकर चले जाते थे। महीने-डेढ़ महीने में कई बार मैंने दस्तक या सीटी की आवाज़ सुनी। उसे सुनते ही फैज़ अली तुरन्त उठकर चले जाते। फैज़ अली से सम्बन्ध हुए कोई डेढ महीना हुआ होगा, इतने दिनो मे मेरा बक्सा सादे और जडाऊ गहनो से भर गया। अशर्फियो और रुपयो की गिनती ही न थी। अब मेरे पास खानम और बुआहुसैनी से छिपाया हुआ दस-बारह हजार का माल हो गया था।

फैज़ अली से अगर मुझे मुहब्बत न थी तो नफरत भी न थी। और नफरत होने का कोई कारण भी न था। एक तो वह कुछ बदसूरत भी न थे, दूसरे लेना-देना अजीब चीज़ है! मैं सच कहती हूँ, जब तक वह न आते थे, मेरी आँखे दरवाज़े की तरफ लगी रहती थीं। गौहर मिर्ज़ा का आना-जाना इन दिनो केवल दिन का रह गया था। रात को आने वालो में से अक्सर लोग समझ गये थे कि मैं किसी से बध गई हूँ। इसलिए जल्दी खिसक जाते थे। जो साहब जम के बैठते थे, उन्हें मैं किसी बहाने टाल देती थी। खुर्शीद की तलाश बहुत हुई, मगर कही पता न मिला। इस बीच फैज़ अली को मुझसे बहुत मुहब्बत हो गई थी जो कई तरह से प्रकट होती थी। अगर मेरा दिल शुरू से गौहर मिर्ज़ा की ओर न झुक जाता तो मैं जरूर फैज अली से मुहब्बत करती और उसे ही दिल देती! फिर भी मैंने उनके मनोरंजन और खातिरदारी में कोई कमी नही रखी। मैंने फैज़ अली को धोखा दे रखा था कि मुझे तुमसे मुहब्बत है और वह बेचारा मेरे जाल मे फंसा था। जो कुछ उसने चोरी-चोरी मुझे दिया, उसकी किसी को कानों-कान खबर न थी। खानम और बुआ हुसैनी के कहने से मुझे फरमाइशें भी करनी पडती थी। वह उन्हें भी पूरा करना अपना कर्त्तव्य समझता था। रुपये-पैसे की उसे कोई परवाह न थी। ऐसा खुले दिल का आदमी न मैंने रईसों मे कोई देखा और न शाहज़ादो मे।

रुसवा—जी हा, क्यो नही! माले-मुफ्त, दिले-बेरहम! भला उसके बराबर किसी का दिल हो सकता है!

उमराव—माले-मुफ्त क्यों ?
रुसवा—नहीं तो क्या अपनी मां का ज़ेवर उतारकर ला देता था !
उमराव—हमें क्या मालूम था !

१२

रात को आने वालों में एक पन्नामल जौहरी थे। घण्टा-दो-घण्टा बैठकर चले जाते थे। उन्हें चार आदमियों में बैठने का ही मज़ा था। अगर उनकी ख़ातिर-दारी होती रहे तो और किसी के आने-जाने से उन्हें कुछ गरज न थी। महीने में दो सौ रुपए नकद देते थे और फरमाइशों का ज़िक्र ही क्या ! फ़ैज़ अली से मुलाकात के दिनों में उनका आना-जाना भी कम हो गया था। या तो हर रोज़ आया करते थे या अब दूसरे-तीसरे दिन आने लगे। फिर एक बार पन्द्रह दिन का गोता लगाया। अब जो आए तो उदास-उदास, चुप-चुप। मामूली बातों का जवाब देते थे और चुप हो जाते थे।

पन्नामल : क्या तुमने सुना ?

"क्या ?"

"हम तो तबाह हो गए। घर में चोरी हो गई। पुश्तों का धन उठ गया।"

मैं : (चौंककर) हाय ! चोरी हो गई ! कितने का माल गया ?

"सब उठ गया, रहा क्या ? दो लाख की ज्यूलरी उठ गई !"

मैं दिल में हंसी—हंसी इस बात पर कि इनके बाप छन्ना मल तो प्रसिद्ध करोड़पति हैं, इसमें सदेह नहीं कि दो लाख की बड़ी रकम होती है, मगर इनके लिए क्या चीज़ है !—पर ज़ाहिरा मुंह बनाकर बहुत दुख प्रकट किया।

पन्नामल : जी हां, आजकल शहर में चोरियां बहुत होती हैं। नवाब मलका आलम के यहां चोरी हुई, लाला हरप्रशाद के यहां चोरी हुई, अंधेर है ! सुना है, बाहर से चोर आए हुए हैं। मिर्ज़ा अली बेग बेचारे हैरान हैं। शहर के सब चोर बुलाए गए थे, किसी से कुछ पता न चला। वे लोग कानों पर हाथ रखते हैं कि यह हमारा काम नहीं।

पन्नामल के आने के दूसरे दिन मैं अपने कमरे में बैठी थी कि चौक में एक

शोर हुआ। मैं भी पर्दे के पास जा खड़ी हुई। देखा कि जनता की भीड़ थी!

एक : आखिर गिरफ्तार हुए न!

दूसरा : वाह, मिर्जा! क्या कहना! कोतवाल हो तो ऐसा!

तीसरा : क्यों भई, कुछ माल का भी पता लगा?

चौथा : बहुत-कुछ मिल गया, मगर अभी बहुत-सा बाकी है।

पांचवां : मियां फैजू भी पकड़े गये?

छठा : वह आते तो हैं!

मैंने अपनी आंखों से देखा कि मियां फैजू बंधे चले आ रहे हैं। सिपाहियों की गारद साथ है। चारों तरफ जनता की भीड़ है। मियां फैजू मुंह पर दुपट्टा डाले हुए हैं, उनकी सूरत दिखाई नहीं देती! दोपहर से पहले की बात है।

रोज की तरह फैजअली कोई पहर रात गए तशरीफ लाये। कमरे मे हम दोनों ही थे। आते ही कहा, "आज हम बाहर जा रहे हैं। परसों आयेंगे। देखो उमराव जान, जो कुछ हमने तुम को दिया है, उसको किसी से न बताना। हुसैनी को न देना, न खानम को दिखाना। तुम्हारे काम आयेगा। हम परसों जरूर आयेंगे। अच्छा, यह बताओ, हमारे साथ थोड़े दिनों के लिए बाहर चल सकती हो?

मैं : तुम जानते हो कि मैं अपने बस नहीं। खानम साहब को अख्तियार है। तुम उनसे कहो। अगर वह राजी हों तो मुझे क्या उज्र है?

फैजअली : सच है कि तुम लोग बड़े बेवफा होते हो! हम तो तुम पर जान दिये देते हैं और तुम ऐसा सूखा जवाब देती हो! अच्छा, बुआ हुसैनी को बुलाओ।

मैंने बुआ हुसैनी को आवाज दी, वह आई।

फैजअली : (मेरी तरफ इशारा करके) भला कुछ दिनों के लिए बाहर भी जा सकती हैं?

हुसैनी : कहां?

फैजअली : फर्रुखाबाद! मैं कोई ऐसा-वैसा आदमी नहीं हूं। मेरी वहां रियासत है। अभी मैं दो महीनेके लिए जा रहा हूं, अगर खानम साहब मंजूर करें तो दो महीने की तनख्वाह पेशगी, बल्कि इसके अतिरिक्त भी जो कुछ कहें मैं देने को तैयार हूं।

बुआ हुसैनी : मुझे तो नहीं यक़ीन कि खानम मंजूर करेंगी !

फैजअली : अच्छा, तुम पूछो तो !

बुआ हुसैनी खानम साहब के पास गई। मेरे विचार से बुआ हुसैनी को खानम के पास भेजना बेकार था, क्योंकि मुझे विश्वास था कि वह हरगिज मंजूर न करेंगी।

फैजअली ने मेरे साथ वह व्यवहार किया था कि अगर मैं स्वाधीन होती तो मुझे उनके साथ जाने में कुछ उज्र न होता। मैं यह विचार कर रही थी कि जब इस आदमी ने मेरे घर पर इतना कुछ दिया है तो अपने देश—घर ले जाकर तो निहाल कर देगा। मैं इसी विचार में थी कि इतने में बुआ हुसैनी ने आकर साफ जवाब दे दिया कि इनका बाहर जाना किसी तरह भी संभव नहीं।

फैजअली : दूगनी तनख्वाह पर सही !

बुआ हुसैनी : चौगुनी तनख्वाह पर भी संभव नहीं। हम लोग बाहर नहीं जाने देते।

फैजअली : खैर, जाने दो।

बुआ हुसैनी चली गई। मैंने देखा कि फ़ैजअली की आंखों से टप-टप आंसू गिरने लगे। यह हाल देखकर मुझे बहुत ही तरस आया। माशूकों की बेवफाइयों का जिक्र जब मैं किस्से-कहानियों में सुनती थी तो मुझे अफसोस होता था, बुरा समझती थी, मुझे अब ख्याल आया कि अगर इसका साथ न दिया तो मेरी बे-वफाई और कृतघ्नता में कोई संदेह नहीं होगा। मैंने दिल में ठान ली कि इस आदमी का साथ जरूर दूंगी।

मैं : अच्छा, तो मैं चलूंगी।

फैजअली : चलोगी ?

मैं : हां, कोई जाने दे या न जाने दे। मैं जरूर चलूंगी।

फैजअली : क्योंकर ?

मैं : छिप कर।

फैजअली : अच्छा, तो परसों रात को हम आयेंगे। फिर रात रहते यहां से निकाल ले चलेंगे। देखो, धोखा न देना, वरना अच्छा न होगा।

"मैं अपनी खुशी से चलने को कहती हूं। तुम से वायदा कर चुकी हूं। मेरे वायदे को भी देखना।"

"बहुत अच्छा, देखा जायगा।"

उस रात को फैजअली कोई डेढ़ पहर रात रहे मेरे पास से उठकर चले गए। उनके जाने के बाद मैं दिल मे सोचने लगी—'वायदा तो कर लिया है, मगर देखो क्या होता है! जाना होगा या नही?' जब फैजअली की मुहब्बत और अपने वायदे का ख्याल आता था तो दिल कहता था, जाना चाहिए मगर जैसे अन्दर से कोई मना करता था कि न जाओ, खुदा जाने क्या हो!

इसी उधेड़बुन में सुबह हो गई। कोई बात तय नही हुई। दिन-भर यही बातें दिल मे रही। संयोग से रात को कोई मेरे पास नहीं आया। कमरे मे अकेली इसी सोच-विचार मे डूबी रही। आखिर नीद आ गई। सुबह को दिन चढ़े तक सोती रही। गौहर मिर्जा ने आकर कच्ची नीद झझोड़कर उठा दिया। मुझे बहुत ही बुरा मालूम हुआ। दिन-भर नशे-की-सी खुमारी रही। न मालूम किस बात पर बुआ हुसैनी से भी उलझन हो गई! हां, याद आया! बात यह थी कि कहीं बाहर से मुजरे के लिएबुलावाआया था। बुआहुसैनी नेमुझ सेकहा, "जाओगी।" उस समय मेरे सर मे दर्द हो रहा था। मैंने साफ इन्कार कर दिया। बुआ हुसैनी ने कहा, "वाह! जब-तब इन्कार कर देती हो! आखिर इस पेशे मे रह-कर करोगी तो क्या?" मैंने कहा, "मैं तो न जाऊंगी।" बुआ हुसैनी ने कहा, "नही, जाना होगा! खास तुम्हारी फरमाइशहै और खानम साहब ने वायदा कर लिया है, रुपया भी ले लिया है।" मैंने कहा, "बुआ हुसैनी, मैं नही जाने की! रुपया फेर दो।"

बुआ हुसैनी : भला तुम जानती हो, खानम साहब रुपया लेकर कभी फेरती हैं?

मैं : चाहे किसी की तबीयत अच्छी हो, चाहे न अच्छी हो! अगर खानम साहब रुपया न फेरेंगी तो मैं अपने पास से फेर दूंगी।

बुआ हुसैनी : आह हा! अब तुम बड़ी रुपये वाली हो गई हो! लाओ फेर दो।

मैं : कितना रुपया है?

बुआ हुसैनी : सौ रुपये हैं।

मैं : सौ रुपये लोगी या किसी की जान?

बुआ हुसैनी को भी उस दिन खुदा जाने कहा की जिद् चढ़ गई थी।

"बड़ी खरी हो तो दे दो।"

मैं : शाम को दे दूंगी।

बुआ हुसैनी : वहां बाहर के आदमी बैठे हुए हैं। वे शाम तक के लिए क्यों मानेंगे ?

बुआ हुसैनी अपने दिल मे यह समझ रही थीं कि इसके पास रुपया कहां से आया ? अगर इस समय इस बहाने तंग की जायगी, तो आप ही मुजरे के लिए राजी हो जायगी। मेरे बक्से में इस समय ज्यादा नही तो हजार-डेढ़ हजार की तो अशर्फियां थी। जेवर की बात ही नहीं। मगर इस समय बुआ हुसैनी के सामने बक्सा खोलना उचित न था।

मैं : जाओ घंटे भर में ले जाना।

बुआ हुसैनी : घंटे भर मे क्या जिन्न दे जायेंगे ?

मैं : हां, दे जायेंगे। जाओ भई, मुझे इस समय तंग न करो। मेरी तबीयत अच्छी नही है।

बुआ हुसैनी : आखिर कुछ कह तो लड़की, क्या हुआ ?

मैं : मुझे बुखार की-सी हरारत है और सर मे जोर का दर्द है।

बुआ हुसैनी : (माथे पर हाथ रख कर) हां, सच पिंडा फीका है। मगर मुजरे पर तो कही परसों जाना होगा। तब तक खुदा न करे, क्या तबीयत का यही हाल रहेगा ? रुपये क्यों फेरे जायं ?

मैं इस बात का कुछ जवाब न देने पाई थी कि बुआ हुसैनी जल्दी से उठकर चल दीं। बुआ हुसैनी की इस स्वार्थवृत्ति से मुझे बहुत गुस्सा आ गया। उसी समय दिल में बदी आ गई ! दिल ने कहा, "वाह जी ! जब इन लोगों को हमारे दुख-बीमारी का ख्याल नही, अपने मतलब से मतलब है, तो इनके साथ रहना बेकार है।"

रुसवा : कभी पहले भी यह ख्याल आपके दिल में आया था ?

उमराव : कभी नही। मगर आप यह क्यों पूछते हैं ?

रुसवा : इसलिए कि फैजअली ने जो वह सहारा दिया था, उसी से आपके दिल में यह ख्याल पैदा हुआ।

उमराव : यह तो स्पष्ट है !

रुसवा : स्पष्ट तो यह है, मगर इसमे एक बारीकी भी है।

उमराव : वह बारीकी क्या है ? खुदा के लिए जल्दी कहिए।

रुसवा : फैजअली के साथ निकल जाने की बात वायदा करने से पहले ही आपके दिल में बैठ चुकी थी, अब दिल बहाने ढूढ रहा था कि कैसे निकलूं !

उमराव : नही, यह बात न थी। मैं द्विधामें थी कि जाऊ या न जाऊ। गौहर मिर्जा के असमय छेड़ने और बुआ हुसैनी की जबरदस्ती से मैंने जाने का निश्चय कर लिया था। बल्कि उस समय तक कुछ यूंही-सा इशारा था। जब रात को फैजअली आये तो उनकी सूरत और दृढ़ता देखकर इरादा पक्का हो गया था।

रुसवा : जी नही, पहले ही से इरादा पक्का हो चुका था ! इसीलिए गौहर मिर्जा का छेड़ना और बुआ हुसैनी की जिद्द आपको बुरी मालूम हुई अन्यथा ये मामूली बातें थी। ऐसा तो अक्सर हुआ करता होगा।

उमराव : मैंने माना कि ऐसा होगा। अच्छा, फिर वह मना करने वाला कौन था ? मैं सच कहती हूं कि चलते-चलते मुझे ऐसा मालूम हुआ जैसे कोई कान में कह रहा है, "उमराव, न जा, कहा मान।" जिस समय मैं दो-तीन सीढियां उतर चुकी थी, उस समय तो ऐसा मालूम हुआ जैसे कोई हाथ पकड़ कर खींच रहा है कि न जा। मगर मैंने न माना।

रुसवा : यह रोकने वाला बड़ा जबरदस्त था। इसी का हुक्म न मानने की तो आपने सजा भुगती।

उमराव : अच्छा, मैं समझी। यह वह चीज है जो नेक काम का आदेश करती है और बुरे कामो से रोकती है।

रुसवा : जी नही, यह वह नही थी। खानम के मकान पर रहना कौन-सा अच्छा काम था ! आपकी बातो से मालूम हो चुका है कि आप दुराचरण को हमेशा बुरा समझती रही है, यद्यपि आपकी परिस्थिति ने आपको इसके लिए मजबूर किया। फिर खानम के मकान पर रहने से एक शख्स का साथ देकर उस का पाबद हो जाना कहीं बेहतर था। बात असल मे यह थी कि फैज अली के व्यवहार ने आपको उसके साथ निकल चलने की प्रेरणा दी थी। चेहरे पढने और पहचानने के शौक से आप पुरुष-प्रकृति की अच्छी-खासी जानकार हो गई थी। ऐशबाग के मेले में लोगों के चेहरे देखने का हाल मैंने बड़े चाव से सुना है। फैज अली की करतूत से आप बेखबर थी मगर उसकी आकृति-प्रकृति, चाल-ढाल, बोल-चाल से आप जान गई थी कि उसके साथ जाने मे कुछ-न-कुछ खतरा जरूर

है। मगर उसकी धोखे-भरी बातों और रुपये के लालच ने आपकी आंखों पर पर्दे डाल दिये थे। अफसोस ! अगर आपको पुरुष पहचानने के असूलों का ज्ञान होता तो भी उसके जाल मे न आती।

उमराव : मैं पढूंगी, किसी किताब का नाम बताइए।

खानम का मकान चौक मे बहुत ही सुरक्षित स्थान पर है। पश्चिम की ओर बाजार है, उत्तर-दक्षिण में वेश्याओं के ऊंचे-ऊंचे कमरे हैं। एक तरफ बीबी जान का मकान है, दूसरी तरफ हुसैनी बांदी रहती हैं। पिछवाड़े मीर हसन अली साहब का दीवानखाना है। ग़रज़ कि किसी तरफ से चोर का लगाव संभव न था। इस पर भी तीन चौकीदार नौकर थे जो रात-भर कोठों पर फिरते थे। जब से फैज अली का आना-जाना शुरू हुआ था, मक्का चौकीदार खास तौर पर मेरे कमरे के दरवाजे पर रहता था। क्योंकि फैज अली रात गए आया करते थे और रात रहते चले जाते थे इसलिए दरवाजे बंद करने और ताला लगाने का काम उसे सौंपा गया था।

रात को अपने वायदे के अनुसार फ़ैज अली आए। थोड़ी देर तक चुपके-चुपके निकलने का परामर्श होता रहा। इतने मे मक्का ने अंगड़ाई ली। मालूम हुआ कि जाग रहा है। फैज अली ने उसे कमरे मे बुलाया। कहा, "एक रुपया इनाम लो, तुम को हमने कुछ नही दिया था। दरवाजा भेड़ देना। हम जाग रहे हैं, कोई डर नही।"

मक्का सलाम करके कमरे के बाहर निकला। फैज अली ने कहा, "लो अब चलो।" मैं उठी। दो जोड़ेकपड़े दिन सेही गठरी में बांधरखे थे। जेवर का बक्सा मैंने पहले ही से खिसका लिया था। गठरी बगल में दबाई। बड़े दरवाजे की तरफ का रास्ता लिया। नखास में बैलगाडी पहले ही से खड़ी की गई थी। हम दोनों सवार हुए और चल निकले। हिंडोला की सीमा से थोड़ी दूर जाकर फैज अली का साईस घोडा लिए हुए मिला। वह भी बैलगाड़ी के साथ हो लिया। सुबह होते-होते मोहन लालगज पहुचे। यहा सराय में दोपहर तक ठहरे। भटियारी से खाना पकवा कर खाया -- दाल अरहर की बेनमक फीकी

जिसमे बिल्कुल न थी बू घी की !

तीसरे दिन रायबरेली मे दाखिल हुए। यहा सफर के लिये कपडे खरीदे। मेरे दो जोड़े बनवाये गए। लखनऊ में जो कपड़े पहनकर आई थी, उतारकर

री में बांधे। रायबरेली में वह बैलगाड़ी छोड़ दी जिसे लखनऊ से लाए थे। री गाड़ी किराये पर ली। लालगंज की तरफ रवाना हुए। यह रायबरेली से ई नौ-दस मील की दूरी पर है। शाम तक पहुंच गए। रात-भर सराय में रहे। अली जरूरी सौदा-सामान खरीदने बाजार चले गए। जिस कोठरी में हम थे, के पास वाली कोठरी में एक ग्रामीण वेश्या ठहरी हुई थी। नसीबन नाम था। ने-पाते से ठीक थी। कपड़े भी अच्छे थे। थी वह देहाती, मगर बोली बहुत फ थी। स्वर-लहजा शहरियों-जैसा था। मेरी-उसकी देर तक बातें हुई—

नसीबन: आप कहां से आई हैं?

मैं: फैजाबाद से।

नसीबन: फैजाबादमेंतो मेरीबहन प्यारन रहतीहै,आप जरूरजानतीहोंगी।

मैं: (आखिर पहचान गई ना कि मैं भी वेश्या हूं) मैं क्या जानू!

नसीबन: फैजाबाद में कौन ऐसी वेश्या है जो हम को नहीं जानती!

मैं: बहुत दिनों से इनके घर बैठ गई हूं। यह लखनऊ में रहते हैं। इसलिए भी अक्सर वहीं रहती हूं।

नसीबन: आखिर तुम्हारा जन्म तो फैजाबाद का है!

मैं: (यह तो बिल्कुल सच कहती है, अब क्या जवाब दूं।) हां, पैदा तो वहां ई, मगर बचपन से बाहर रही।

नसीबन: तो फैजाबाद में किसी को नहीं जानती?

मैं: किसी को नहीं।

नसीबन: यहां कैसे आना हुआ?

मैं: इनके साथ हूं।

नसीबन: और जाओगी कहां?

मैं: उन्नाव।

नसीबन: लखनऊ होती हुई आई हो?

मे: हां।

नसीबन: फिर सीधा रास्ता छोड़कर इस बीहड़ में कहां आई हो? नरपत-गर होकर उन्नाव चली गई होती।

मैं: रायबरेली में इनका कुछ काम था।

नसीबन: मैंने इसलिए कहा कि इधर का रास्ता बहुत खराब है। डाकू अ

के डर के मारे मुसाफिरों का आना-जाना बंद है। पुलिया के बीहड़ में। संदड़ों को लूट चुके हैं। उन्नाव का रास्ता उधर से ही है। तुम तीन आदमी जिसमें दो आदमी, एक औरत तुम्हारे। हाथ-गले में गहना भी है। मलातुम्ह क्या हकीकत है, वहां तो बरातें लुट जाती हैं

मैं : जो भाग्य में होगा, देखा जायगा।

नसीबन : बड़ी दिल की कड़ी हो !

मैं : फिर क्या करूं ?

इसके बाद इधर-उधर की बातें हुईं, जिन्हें दोहराना जरूरी नहीं और मुझे याद हैं। हां, मैंने पूछा, "तुम कहां जाओगी ?"

नसीबन : हम तो गदाई को निकले हैं।

मैं : समझी नहीं।

नसीबन : ऐ लो, गदाई नहीं जानतीं, कैसी वेश्या हो ?

मैं : बहन मैं क्या जानूं ? गदाई तो भीख मांगने को कहते हैं।

नसीबन : भीख मांगें हमारे दुश्मन ! और सच पूछो तो मैं कहूं, वेश्या जात भीख मंगनी ही है—चाहे डेरेदार हो या न हो !

मैं : हां, सच तो है। मगर मुझे नहीं मालूम था कि गदाई किसे कहते हैं।

नसीबन : साल में एक बार हम लोग घर से निकल कर गांव-गांव फि हैं। अमीर-रईसों के मकान पर जाकर उतरते हैं। जो कुछ जिसके भाग्य में हो है, हमें मिलता है। कहीं मुजरा होता है, कहीं नहीं होता।

मैं : अच्छा, इसे गदाई कहते हैं !

नसीबन : हां, अब समझीं !

मैं : यहां किसी रईस के पास आई हो ?

नसीबन : यहां से थोड़ी दूर पर एक राजा शंभु ध्यानसिंह की गढ़ी है, उ के पास गई थी। राजा साहब को बादशाही हुक्म मिला है—वे डाकुओं के बन्द बस्त को गए हुए हैं। कई दिन ठहरी रही। आखिर जी घबराया, यहां च आई। यहां से दो कोस पर एक गांव है—समरिया। बिल्कुल वेश्याओं का ग है। वहां मेरी खाला रहती हैं। कल उनके पास जाऊंगी।

मैं : फिर कहां जाओगी ?

नसीबन : मैं ठहरी रहूंगी। जब राजा साहब आ जायंगे तो फिर गढ़ी

रूंगी। और भी बहुत-से डेरे उनके इन्तजार में ठहरे हुए हैं।

मैं : क्या राजा साहब को नाच-मुजरे का भी शौक है ?

नसीबन : बहुत शौक था।

मैं : क्यों अब क्या हुआ ?

नसीबन : जब से एक वेश्या को लखनऊ से लाए हैं, हमारी कोई कदर नहीं रही।

मैं : उस वेश्या का क्या नाम है ?

नसीबन : नाम तो मुझे याद नहीं। सूरत देखी है, गोरी-गोरी-सी है, जरा चेहरे-मुहरे की अच्छी है।

मैं : गाती अच्छा होगी।

नसीबन : खाक ! गाना-वाना नहीं आता। हां, नाचती जरा अच्छा है। राजा साहब उसी पर लट्टू हैं।

मैं : कितने दिनों से वह आई है ?

नसीबन : कोई छः महीने हुए होंगे।

रात को मैंने फैजअली से रास्ता खराब होने की बात कही। उन्होंने कहा, चिंता न करो, हमने बन्दोबस्त कर लिया है।

१३

दूसरे दिन मुंह-अंधेरे मोहनलालगंज की सराय से रवाना हुए। नसीबन की गाड़ी हमारे पीछे-पीछे थी। फैजअली घोड़े पर सवार थे। हम और नसीबन बातें करते जा रहे थे। थोड़ी दूर चलकर समरिया आ गया। नसीबन ने दूर से हमें वह गांव दिखाया। सड़क के किनारे खेत थे। उनमें कुछ ग्रामीण नारियां पानी दे रही थीं। कुछ खेत निरा रही थीं। एक सिंचाई चल रही थी—उसमें एक मुसटंडी औरत धोती बांधे बैल हांक रही थी। एक पुर ले रही थी। नसीबन ने कहा, ये सब वेश्याएं हैं। मैंने दिल में कहा, वाह ! क्या पेशा है ! फिर इतनी मेहनत जो मरदों के लिए भी कठिन हो ! आखिर इन्हें वेश्या बनने की फिर क्या जरूरत थी ! मगर इनकी सूरतें भी ऐसे ही कामों के लायक हैं। लखनऊ में जो रंडे-

वालियां, दहीवालियां, घोसिनें आती हैं, उनकी शक्ल भी ऐसी ही
नसीबन यहां से जुदा हो गई।

कोई दो कोस आगे एक ढलान थी। जगह-जगह बीहड़, बड़े-बड़े गढ़े सामने नदी का किनारा नजर आया। दोनों तरफ दूर तक घने पेड़ों की पंक्ति थी। जिस समय हम इस स्थान पर पहुंचे, धूप अच्छी तरह निकल चुकी थी। कोई पहर-भर दिन चढ़ा होगा। इस सड़क पर हमारे सिवा और कोई राह चलता दिखाई न देता था। चारों तरफ सन्नाटा था। नदी के पास पहुंचकर फ़ै अली ने घोड़ा आगे बढ़ाया। मैं रोकती रह गई। यह जा, वह जा, बहुत निकल गए। थोड़ी दूर तक घोड़ा आंखों से ओझल रहा, फिर नदी के उस प जाकर दिखाई दिया।

हमारी गाड़ी इसी तरह चली जा रही थी। गाड़ीवान गाड़ी हांक रहा था साईस घोड़े के पीछे दौड़ा चला गया था। अब मैं हूं और गाड़ीवान। इतने में मैं दूर से देखा कि दस-पन्द्रह गंवार गाड़ी की तरफ दौड़े चले आ रहे हैं। मैंने दि में कहा, खुदा खैर करे! थोड़ी देर में उन्होंने आकर गाड़ी को घेर लिया। स तलवारें बांधे हुए थे, बंदूकें कंधे पर थीं, तोड़े सुलग रहे थे!

गंवार : (गाड़ीवान से) गाड़ी रोक, कौन है गाड़ी में?

गाड़ीवान : यह सवारी बरेली से आई है, उन्नाव का भाड़ा किया है।

गंवार : गाड़ी रोक!

गाड़ीवान : गाड़ी क्यों रोकें! खां साहब के यहां की जनानी सवारी है।

गंवार : कोई मरद साथ नहीं है?

गाड़ीवान : मरद आगे बढ़ गए हैं, आते होंगे।

गंवार : उतरो बीबी गाड़ी से!

एक : पर्दा खोल के खींच लो। ससुरी वेश्या ही तो है, इसका क्या पर्दा!

एक गंवार आगे बढ़ा। गाड़ी का पर्दा उलटकर मुझे गाड़ी से उतारा। तीन आदमी मुझे घेरकर खड़े हो गए। इतने में नदी से गर्द उठी और घोड़ों की टापों की आवाज आई। जब घोड़े पास आए, मैंने देखा, आगे फ़ैजअली का घोड़ा है पीछे दस-पन्द्रह सवार और हैं। गंवारों ने देखते ही बंदूकों की बाढ़ छोड़ दी। उसमें दो सवार इधर के गिर पड़े। फिर तलवारें म्यान से निकलीं। सवार सर पर ही आ गए थे। इधर से भी तलवारें खिंच गईं। दो-एक हाथ चले होंगे—तीन

गंवार इधर से घायल होकर लुढ़क गए, एक सवार और उधर गिरा। गंवार भाग निकले ! अच्छा जाओगे कहां ? देखो नदी के उस पार क्या होता है !

डकैतों के जाने के बाद मैं फिर गाड़ी में बैठी। जिस सवार के घाव लगे थे, उसके पट्टियां कसी गईं। वह भी गाड़ी में मेरे साथ बिठाया गया। गाडी रवाना हुई। अब दो सवार हमारी गाड़ी के इधर-उधर हुए, कुछ आगे-आगे और कुछ पीछे।

फैजअली : (अपने साथी से) भाई, किसी तरह लखनऊ से निकलना ही नहीं होता था। बडी मुश्किल से जान छुड़ाकर आया हूं !

फजलअली : यह नहीं कहते कि ऐश में पड़े रहे।

फैजअली : हां, यह तो तुम कहोगे !

फजलअली : कहेंगे क्या ? तोहफा भी तो साथ-साथ है ! जरा भाभी साहब को हम भी देखें !

फैजअली : आप से कोई पर्दा है ? देखिए।

फजलअली : डेरे पर चलकर जी-भरकर देखेंगे।

इतने मे गाडी नदी के किनारे पहुंच गई। किनारा बहुत ऊंचा था। मुझे गाड़ी से उतरकर पैदल चलना पड़ा। बड़ी मुश्किल से गाड़ी दूसरे किनारे तक पहुंची। जो घायल सवार गाड़ी पर था, उसके घाव गाड़ी के हिचकोलों से खुल गए थे। तमाम गाड़ी में खून ही खून हो गया।

नदी के उसपार जाकर घाव फिर बांधे गए। गाड़ी धोई गई। फिर मैं गाड़ी मे सवार हुई। अब लगभग दोपहर दिन चढ आया था। मुझे जोर की भूख लगी थी। गाड़ी उसी तरह चल रही थी। इन लोगों का डेरा कहीं दिखाई न देता था। नदी से कोई चार कोस पर जाकर एक गांव के पास एक बाग था। इसमें छोलदारियां पड़ी हुई थीं। घोड़े बंधे हुए थे। लोग इधर-उधर फिर रहे थे। कुछ लोग खाना पका रहे थे। यहां आकर हमारी गाड़ी रुकी। हमारे साथ के सवारों को देखते ही एक आदमी इस पड़ाव से आगे बढा। उसने फजलअली के कान में कुछ कहा। फजलअली के चेहरे से चिंता प्रकट होने लगी। वह अपना घोड़ा बढ़ाकर फैजअली के पास आए और चुपके-चुपके बातें हुईं।

फैजअली : अच्छा, देखा जायगा। खाना तो खा लो।

फजलअली : खाना खाने का समय नहीं, अभी निकल चलो।

फैजअली : अच्छा, जब तक छोलदारियां उखाड़ी जायं, घोड़ों पर ज़ीन कसे जायं, तब तक हम लोग खाना खा लें।

मैं गाड़ी से उतरी। आम के पेड़ के नीचे दरी बिछा दी गई। सालन की पतीलिया लाकर रखी गई। थई की थई रोटियां मोटी-मोटी, टोकरियों में आईं! मैं, फैजअली और फजलअली के तीन आदमियों ने मिलकर खाना खाया। खाना खाते समय यद्यपि चेहरों पर चिंता की रेखाएं थीं, फिर भी हंसी-मजाक होता रहा। जितनी देर में हम लोगों ने खाना खाया, इतने में छोलदारियां उखाड़कर टट्टुओं पर लादी गईं, ज़ीन कसे गए। आखिर काफला चल निकला। दो-तीन कोस ही गए होंगे कि बहुत-से सवारों और पैदलों ने आकर घेर लिया। इधर भी सब पहले से तैयार थे। दोनों तरफ से गोलियां चलने लगीं। इस लड़ाई में फैज-अली मेरी गाड़ी के पास-पास रहे। मैं गाड़ी के अन्दर बैठी दुआएं पढ़ रही थी। कलेजा हाथों उछला जा रहा था, देखिए क्या होता है! कभी-कभी गाड़ी का पर्दा खोलकर देख लेती। यह गिरा, वह मरा! आखिर दोनों तरफ से बहुत-से घायल हुए। हमारे साथ पचास-साठ आदमी थे। राजा ध्यानसिंह के आदमी बहुत थे। एक पर दस टूट पड़े। बहुत-से जख्मी हुये। फजलअली और फैजअली मौका पाकर निकल गए। दस-बारह आदमी गिरफ्तार हुए—उनमें मैं भी थी!

१४

हम लोगों की गिरफ्तारी के बाद गाड़ीवान ने तो मिन्नत-खुशामद करके रिहाई पा ली। जख्मी सवार को मैदान में लाशों के ढेर में डाल दिया गया। वह तो अपनी जान लेकर बरेली की तरफ रवाना हुआ। मरदों की मुश्कें कसी गईं। सब गढ़ी की तरफ रवाना हुए। गढ़ी वहां से कोई पांच कोस थी। थोड़ी दूर जाने पर राजा साहब और उनके साथ के और लोग मिले। राजा साहब खुद घोड़े पर सवार थे। हम लोग सामने गए। मेरी ओर इशारा करके उन्होंने पूछा, "यही बी साहबा लखनऊ से आई हैं?".

मैं : (हाथ बांधकर) हुजूर कसूरवार तो हूं, लेकिन अगर आप विचार करें तो मेरा कसूर भी नहीं है। औरत जात, जाल-फरेब से बेखबर!

मैं क्या जानती थी !

राजा : अब बेकसूरी साबित करने की कोशिश न कीजिए। आपका दोष स्पष्ट है। जो बातें आपसे पूछी जायं, उनका जवाब दीजिए।

मैं : जो हुक्म !

राजा : लखनऊ मे कहा मकान है ?

मैं : टकसाल मे।

राजा : (आदमियों को इशारा करके) देखो, तमतखेड़े से एक बैलगाड़ी ले लो। लखनऊ की वेश्या है, हमारे देश की वेश्या नही है कि रात-भर महफिल में नाचे और फिर भी बरात के साथ दस-दस कोस तक नाचती चली जाय !

मैं : हुजूर को खुदा सलामत रखे !

आदमी गए, गढ़ी से गाड़ी लेआए। मुझे गाड़ी पर बिठाया। और लोग उसी तरह मुश्कें कसे साथ-साथ पैदल थे। गढ़ी में पहुंचकर वे लोग न मालूम कहां भेज दिए गए। मैं कोट में बुलाई गई। साफ-सुथरा मकान रहने को दिया गया। दो आदमी सेवा को नियुक्त हुए। पका-पकाया खाना, पूरियां, कचौरियां, मिठाइयां, तरह-तरह के अचार खाने को ! लखनऊ छोड़ने के बाद आज रात को खाना पेट भरकर खाया। दूसरे दिन सुबह मालूम हुआ कि और कैदी लखनऊ भेज दिए गए। मेरी रिहाई का हुक्म है! मगर अभी राजा साहब जाने नही देंगे। दिन चढ़े राजा साहब ने बुला भेजा।

राजा : अच्छा, हमने तुमको रिहा किया ! फैजू और फजलअली दोनों बद-माश निकल गए। बाकी सब बदकार जो पकड़े गए थे, लखनऊ पहुंचकर सजा पावेंगे। बेशक तुम्हारा कोई कसूर नही है। मगर आगे ऐसे लोगों से न मिलना। अगर तुम्हारा जी चाहे, दो-चार दिन यहां रहो, हमने तुम्हारे गाने की बहुत तारीफ सुनी है !

मैं : (नसीबन की वह बात याद आई कि राजा साहब के पास लखनऊ की कोई वेश्या है। हो न हो उसने मेरी तारीफ की होगी) हुजूर ने किससे सुना ?

राजा : अच्छा, यह भी मालूम हो जायगा।

थोड़ी देर के बाद लखनऊ की वह वेश्या बुलाई गई। भला कौन ? खुर्शीद जान ! खुर्शीद दौड़कर मुझसे लिपट गई। दोनों मिलके रोने लगी। ... साहब के डर से तुरंत अलग होकर सामने अदब से बैठ गईं। ...

रिहाई की खबर सुनकर मैंने अवसरानुसार एक ग़ज़ल रच डाली थी—बहुत-से शेर थे, जो याद है सुना देती हूं : हर शेर पर राजा साहब और अन्य हाज़िर लोग बहुत ही आनंदित हुए थे, बेखुदी-सी छा गई थी। ग़ज़ल यह थी—

क़ैदी-ए-उल्फ़ते-सय्याद रिहा होते हैं,
ख़ुशनवायाने-चमनज़ाद रिहा होते हैं।
तू भी छोड़े तो तेरी ज़ुल्फ़ न छोड़े हमको,
कोई हम ऐ सितमईजाद[1] रिहा होते हैं?
हसरत ऐ ज़ौक़े-असीरी, के ख़फ़ा है सय्याद,
आज हम बादिले-नाशाद[3] रिहा होते हैं।
खातिरे-नाज़ुक सय्याद को बर्दाश्त नहीं,
बाइसे-नालाओ-फ़रियाद[4] रिहा होते हैं।
ग़मे-दुनिया न सही और हज़ारों ग़म हैं,
क़ैदे हस्ती से कब आज़ाद रिहा होते हैं?
क्यों न रश्क आए हमें ताज़ा गिरफ्तारों पर,
हम तो ऐ लज़्ज़ते-बेदाद रिहा होते हैं।
ऐ 'अदा' क़ैदे-मुहब्बत से रिहाई मालूम,
कब असीरे-ग़मे-सय्याद रिहा होते हैं?

मक़ता सुनकर राजा साहब ने पूछा, " 'अदा' किसका उपनाम है?"

खुर्शीद ने बताया कि खुद इन्हीं की रची है। राजा और भी खुश हुए, बोले, "अगर यह जानते तो हम आपको हरगिज़ रिहा न करते।"

मैं : ग़ज़ल से हुज़ूर को मालूम हो गया होगा कि इसी का तो अफसोस है! मगर अब तो हुज़ूर हुक्म दे चुके और बांदी आज़ाद हो चुकी है!

इसके बाद जलसा खत्म हुआ। राजा साहब अंदर रसोई जीमने चले गए। खुर्शीद के साथ मेरी खूब बातें हुईं।

खुर्शीद : देखो बहन, मेरा कोई कसूर नहीं। खानम साहब के साथ राजा साहब की बहुत दिनों से लागडाट थी। राजा साहब ने कई बार मुझे बुलवाया,

---

१. सितम ढाने वाले, २. क़ैद रहने का शौक़, ३. उदास मन से, ४. रोना-पुकारना।

उन्होने साफ इन्कार कर दिया था। आखिर ऐशबाग के मेले मे उनके आदमी लगे हुए थे, मुझे जबर्दस्ती उठा लाए। तब से मैं यही हू। हर तरह मेरी खातिर होती है, सब तरह का आराम है।

मैं : मुए गंवारो मे तुम्हारा जी खूब लगता है ?

खुर्शीद : यह बात तो सच है, मगर मेरी तबीयत को तुम जानती हो, रोज नये आदमी से मिलना बिल्कुल पसन्द नहीं। वहां यही करना पडता था। खानम को तो तुम जानती ही हो ! यहां केवल राजा साहब से वास्ता है, और सब मेरे हुक्म के आधीन है। दूसरे, यह मेरा देश है, यहां की हर चीज मुझे अच्छी लगती है !

मैं : तो तुम्हारा इरादा लखनऊ जाने का नही ?

खुर्शीद : मुझे तो माफ करो, यहां अच्छी तरह हूं। वल्कि तुम भी यही रहो।

मैं : यहां तो न रहूंगी, मजबूरी की और बात है।

खुर्शीद : लखनऊ जाओगी ?

मैं : नहीं।

खुर्शीद : फिर कहां ?

मैं : जहां खुदा ले जाय !

खुर्शीद : अभी कुछ दिन रहो।

मैं : हां, अभी तो हूं।

पन्द्रह-बीस दिन तक मैं गढ़ी में रही। खुर्शीद से रोज मिलती थी। खुर्शीद का दिल वहां लगा हुआ था। मेरा दिल वहां बहुत घबराता था। आखिर राजा साहब से मैंने अर्ज किया, "हजूर ने मुझे रिहाई का हुक्म दे रखा है !"

राजा : हां, तो फिर क्या जाना चाहती हो ?

मैं : जी हां, अब दासी को छुट्टी दीजिए, फिर हाजिर हूंगी।

राजा : ये लखनव्वा कथन छोड़ो। अच्छा कहां जाओगी ?

मैं : कानपुर।

राजा : लखनऊ न जाओगी ?

मैं : हजूर, लखनऊ क्या मुंह लेकर जाऊंगी ? खानम से कैसी साथिनें भी क्या-क्या हंसेंगी !

लखनऊ जाने का मेरा वैसे भी इरादा नहीं था, दूसरे, यह ख्याल भी था कि लखनऊ जाने की यदि राजा साहब से कहूंगी तो शायद रिहाई ही न हो। क्योंकि वहां जाने से खुर्शीद का भेद खुल जाता। शायद खानम कोई आफत पैदा करतीं! राजा साहब मेरे इस इरादे से बहुत खुश हुए।

राजा : तो लखनऊ कभी न जाओगी?

मैं : लखनऊ में मेरा कौन बैठा है? गाने-बजाने का पेशा है, जहां रहूंगी, कोई-न-कोई कदरदान मिल ही जायगा। खानम की कैद में रहना अब मुझे मंजूर नहीं। अगर वहां रहना होता तो निकल कर ही क्यों आती!

मैंने राजा साहब को विश्वास दिला दिया कि मैं लखनऊ हरगिज न जाऊंगी। दूसरे दिन राजा साहब ने मुझे विदा किया। दस अशर्फियां इनाम में दीं, एक दोशाला दिया, एक रूमाल, एक रथ तीन बैलों सहित—गरज कि मुझे डेरादार वेश्या बना दिया। एक गाड़ीवान और दो आदमी मेरे साथ किये। उन्नाव को रवाना हुई। वहां पहुंचकर सलारू भटियारे के यहां ठहरी। राजा साहब के आदमियों को विदा किया, केवल गाड़ीवान रह गया।

शाम को मैं अपनी कोठरी के सामने बैठी थी। मुसाफिर आते-जाते थे। भटियारियां चिल्ला रही थीं; "मियां मुसाफिर, इधर आओ, मकान झाड़ा हुआ है, हुक्का-पानी का सब आराम है, घोड़े-टट्टू के लिए नीम की छांव है।" इतने में क्या देखती हूं कि फैजअली का साईस चला आता है! सराय के फाटक ही से उसकी निगाह मुझ पर पड़ गई थी। मेरी उसकी आंखें मिलीं। वह मेरे पास चला आया, बातें करने लगा। मेरा हाल पूछा, फिर मैंने फैजअली का हाल पूछा। उसने कहा, "उनको आपके उन्नाव आने की खबर मिल गई है। आज रात को पहर-डेढ़ पहर रात गये, वे जरूर यहां आ जावेंगे।"

यह सुनकर मेरा दिल धड़कने लगा। कारण यह था कि मुझे अब फैजअली का साथ मंजूर न था। तब्लसेड़े की घटना के बाद मैं समझी थी कि अब उससे गला छूट गया! किन्तु उन्नाव में फैजअली फिर गले पड़ गये! रात को आये। मामूली बातचीत की। उन्नाव से चलने की सलाह होने लगी। बड़ी देर तक बातें होती रहीं। आखिर यह सलाह ठहरी कि गाड़ीवान को विदा किया जाय। साईस गाड़ी हांक लेगा। मैं खुद घोड़े को लूंगा। फिर यह ठहरी कि गाड़ी सलारू भटियारे के पास छोड़ दें, रातों-रात गंगा पार उतर चलें। अब क्या कर सकती

थी ! फैजअली के बस में थी। जो उन्होंने कहा, मुझे मजबूर हो मंजूर करना पड़ा। फैजअली ने सलारू को पुकारा। अलग ले जाकर देर तक बातें कीं। कोई आधी रात गए अपने साथ मुझे घोड़े पर बिठा लिया। सराय से बाहर हुए। पांच-छः कोस चलना, रात का समय ! मेरा जोड़-जोड़ टूट गया। बहुत दिनों तक दर्द रहा ! आखिर ज्यों-त्यों करके गंगा के किनारे पहुंचे। बड़ी मुश्किल से एक नाव तलाश की। उस पार उतरे। फैजअली ने कहा, "अब कोई डर नहीं है।" सुबह होते-होते कानपुर पहुंच गए। फैजअली ने मुझे लाठीमहाल में उतारा। खुद मकान की तलाश में निकले। थोड़ी देर के बाद आकर कहा, "यहां ठहरना ठीक नहीं है। मकान हमने ठहरा लिया है, वहीं चलो चलो।" डोली किराये पर की। थोड़ी देर में डोली एक पक्के शानदार मकान के दरवाजे पर रुकी। फैजअलीने हमें यहां उतारा। मकान के अंदर क्या देखती हूं कि एक दालान में दो चारपाइयां पड़ी हैं, एक चटाई बिछी हुई है। उस पर एक अजीब तरह का हुक्का रखा हुआ है जिसे देखते ही पीने से नफरत हो गई ! मकान का रंग-ढंग देखकर मैं सहम गई ! थोड़ी देर के बाद फैजअली ने कहा, "अच्छा, तो मैं बाजार से कुछ खाने-पीने को ले आऊं।" मैंने कहा, "ठीक है, मगर ज़रा जल्दी आना।" फैजअली बाजार को गए, मैं अकेली बैठी रह गई।

अब सुनिए ! फैजअली बाजार को गए तो वहीं के हो रहे ! न आज आए न कल। एक घड़ी, दो घड़ी, फिर दोपहर—कहां तक कहूं ! दोपहर गुजरी, शाम होने को आई ! उन्नाव में शाम होते ही खाना खाया था। रात को घोड़े पर चलने की थकान, नींद की खुमारी और सुबह से मुंह में चुल्लू-भर पानी तक नहीं पड़ा—टुकड़ा तक नहीं खाया। भूख के मारे दम निकला जाता था। थोड़ी देर में सूरज डूब गया, अंधेरा होने लगा। आखिर रात हो गई ! या खुदा ! अब क्या करूं ? पर्दा खोल दिया, उठ बैठी। इतना बड़ा ढंढार मकान भाय-भाय कर रहा था ! भूत-प्रेत, खुदा की जात और मैं अकेली ! यह मालूम होता था, अब इस कोठरी से कोई निकला, वह सामने दालान में कोई टहल रहा है, कोठे पर धम-धम की आवाज आई है, जीने से कोई खट-खट उतरा चला आ रहा है ! दो पहर रात हो गई, अब तक आंगन और दीवारों पर चांदनी छाई थी। अब चांद भी छिप गया ! बिल्कुल अंधेरा घुप हो गया ! आखिर मैं दोशाले से मुंह लपेट कर पड़ गई। फिर खटके से चौंक उठी। रात पहाड़ हो गई ! काटे नहीं

कटती थी। आखिर जैसे-तैसे सुबह हुई।

दूसरे दिन सुबह को तो अजीब स्थिति थी। अब लखनऊ याद आया। दिल में सोचती थी—या खुदा किस मुसीबत में जान पड़ी! लखनऊ का ऐश-चैन और अपना कमरा याद आया। इधर एक आवाज़ दी, उधर सेवक तैयार—हुक्का, पान, पानी, खाना जो कुछ चाहा, सामने हाज़िर। गरज़ कि आज भी सुबह से दोपहर हो गई, और फ़ैज़अली न आए। इस हालत में कोई सीधी-सादी कुल-बाला होती तो जरूर घुट-घुट कर मर जाती। मेरी लाज पूरी हुई तो न थी, फिर भी सैकड़ों मरदों में बैठ चुकी थी। कानपुर न सही, लखनऊ के तो अक्सर गली-कूचों में घूमी थी। यहां की भी सराय देखी थी, बाज़ार देखा था। अब मेरी बला इस सूने मकान में बैठी रहती! झट-से कुंडी खोल गली में निकल खड़ी हुई। दस-बीस कदम गई हूंगी, देखती क्या हूं कि एक आदमी सरकारी वरदी पहने घोड़े पर सवार, दस-पन्द्रह पैदल सिपाही साथ जिनकी हिरासत में मियां फ़ैज़अली थे—हाथ बंधे हुए, सामने से चले आ रहे हैं। यह मामला देखते ही मैं सन्न रह गई। वहीं से ठिठक पड़ी। एक पतली-सी गली पकड़ी जिसमें एक मस्जिद थी। मैंने दिल में सोचा कि सबसे अच्छा खुदा का घर है, थोड़ी देर यहीं जाकर ठहरना चाहिए! दरवाज़ा खुला हुआ था। मैं सीधी अन्दर चली गई। यहां एक मौलवी साहब से सामना हुआ। काले-से थे, सिर मुंडा हुआ, एक नीली तहमद बांधे हुए धूप में टहल रहे थे! पहले तो शायद समझे कि मैं कुछ भेंट देने आई हूं, बहुत ही खुश हुए। जब मैं जाकर चुपके से आंगन के सिरे पांव फैलाकर बैठ गई तो पास आकर पूछने लगे, "क्यों बी साहब, आपका यहां क्या काम है?"

मैं: मुसाफ़िर हूं, खुदा का घर समझ कर थोड़ी देर के लिए बैठ गई हूं। अगर आपको बुरा लगे तो अभी चली जाऊं!

मौलवी साहब यद्यपि बहुत ही बेतुके थे, मगर मेरे रंग-ढंग और बोलचाल के मधुर लहजे ने जादू का असर किया। भला जवाब तो मुंह से क्या निकलता, हक्के-बक्के इधर-उधर देखने लगे। मैं समझ गई कि जाल में आ गए।

मौलवी: (थोड़ी देर में संभल कर) अच्छा, तो आपका कहां से आना हुआ?

मैं: जी कहीं से भी आना हुआ, मगर अभी तो यहीं ठहरने का इरादा है।

मौलवी : (बहुत ही घबराकर) मस्जिद मे ?

मैं : जी नही, बल्कि आपके कमरे मे।

मौलवी : लाहौल विल्लाकुव्वत ! (खुदा शैतान से बचाए !)

मैं · ऊई मौलवी साहब, मुझे तो आपके सिवा यहा कोई नजर नही आता !

मौलवी जी हा, मैं अकेला रहता हू। इसी से तो मैंने कहा, मस्जिद मे आपका क्या काम ?

मैं यह क्या आपकी कोई खास बात है कि जहा आप रहें, वहा दूसरा नही रह सकता ? मस्जिद मे हमारा कुछ काम नही ! यह खूब कही !! आपका क्या काम है ?

मौलवी . मैं तो लड़के पढाता हू।

मैं : मैं आपको पाठ सिखाऊगी।

मौलवी : लाहौल···खुदा शैतान से बचाए !

मैं : 'लाहौल···' यह आप हर बार लाहौल क्यों पढ़ते है ? क्या शैतान आपके पीछे फिरता है ?

मौलवी : शैतान आदमी का दुश्मन है, उससे हर समय डरना चाहिए।

मैं . खुदा से डरना चाहिए, मुए शैतान से क्या डरना ! और यह आपने क्या कहा ? आप आदमी है ?

मौलवी : (जरा बिगड़ कर) जी हां, और कौन हू ?

मैं मुझे तो आप जिन्न मालूम होते है : अकेले इस मस्जिद मे रहते हैं, आपका जी भी नही घबराता।

मौलवी · फिर क्या करें, हमें तो अकेले रहने की आदत है।

मैं . इसी से तो आपके चेहरे पर वीरानी बरसती है। वह आपने नही सुना कि अकेले रहना आधी दीवानगी है !

मौलवी : अजी वह कुछ भी सही ! जिस हाल मे हम हैं, खुश हैं। आप अपना मतलब कहिये !

मैं : मतलब तो किताब देखने से हल होगा, अभी तो जबानी बहस है।

मौलवी : 'बहुत खूब !' मैंने कहा, 'क्यो न हो।'

मैं मौलवी साहब को खूब झटकती, मगर उस समय भूख के मारे मुह से बात ही न निकलती थी !

रुसवा : यह मौलवी साहब से इतने मजाक की क्या जरूरत थी ?

उमराव : अहा ! इसका हाल न पूछो। कुछ आदमियों की सूरत ही ऐसी होती है कि खाहमखाह हंसने को जी करता है !

रुसवा : जी हां, जैसे किसी की मुंडी हुई खोपड़ी देखकर कुछ आदमियों की हथेली खुजलाती है, चपत लगाने को जी चाहता है।

उमराव : बस यही समझ लीजिए।

रुसवा : अच्छा तो मौलवी साहब में ऐसी कौन-सी बात थी जिससे मजाक करने को जी चाहता था ?

उमराव : क्या कहूं, कुछ कहा नहीं जा सकता : जवान आदमी थे, सूरत भी कुछ बुरी न थी, सांवली रंगत थी, पर चेहरे पर मनहूसियत थी। सिर पर लम्बे-लम्बे बाल थे, मुंह पर दाढ़ी थी—मगर कुछ ऐसी बेतुकी की हद से भी ज्यादा बढ़ी हुई, मूछों का बिल्कुल सफाया था, तहमद बहुत ऊंची बंधी हुई थी, सिर पर छींट की बड़ी-सी टोपी जो सिर को पूरी तरह ढांके हुए थी ! बात करने का अजीब ढंग था, मुंह जल्दी से खुलता था, फिर बंद हो जाता था ! नीचे का होंठ कुछ अनोखे ढंग से ऊपर को चढ़ जाता था और इसके साथ ही नोकदार दाढ़ी कुछ अजीब तरह से हिल जाती थी। उसके बाद नाक से कुछ 'हूंन्'-सा निकलता था। ऐसा मालूम होता था जैसे कुछ खा रहे हों और बातें भी करते जाते हैं—मुंह इसीलिए जल्दी बंद कर लेते हैं कि कहीं कुछ मुंह से निकल न पड़े !

रुसवा : क्या वाकई कुछ खा रहे थे ?

उमराव : जी नहीं, जुगाली कर रहे थे।

रुसवा : अक्सर कठमुल्ला कुछ ऐसी ही सूरत बना लेते हैं जिसे देखकर मूर्खों को डर लगता है, पर अक्लमंदों को हंसी आती है। मुझे ऐसी सूरतें देखने का बड़ा शौक है।

उमराव : और सुनिए ! हजरत की बातचीत में एक और विचित्रता यह थी कि बात कहते अक्सर मुंह फेर लिया करते थे।

रुसवा : तो यह बिल्कुल तमीज की बात थी—इसलिए कि तकरीर फरमाते वक्त आपके मुंह से थूक गिरता होगा।

उमराव : कुछ और बताऊं ?

रुसवा : बस अब माफ कीजिए, यहां तो इसी में सुबह हो गई !

उमराव : खैर, मैंने जेब से एक रुपया निकाला।

मौलवी : (यह समझ कर कि मुझे भेंट किया जा रहा है, हाथ तो जल्दी से बढ़ा दिया और मुंह से) इसकी क्या जरूरत थी।

मैं . (मुस्कराकर) इसकी बहुत जरूरत थी—इसलिए कि मुझे भूख लगी है। किसी से कुछ खाने को तो मंगा दीजिए।

मौलवी · (झेंप कर बात बनाते हुए) मैं समझा। (मैंने दिल मे कहा, समझे क्या खाक ! समझते तो पत्थर के हो जाते !) इसी से तो कहता हू, इसकी क्या जरूरत है। क्या यहा खाना मिलना सभव नही ?

मैं : अभी सभव है या देर मे—आप मे ही या किसी गैर से ?

मौलवी : अभी इसी दम तो नही, मेरा एक शिष्य खाना लाता ही होगा, आप भी खा लीजिएगा।

मैं : अभी इसी दम तो मुमकिन नहीं ! अपने आप बनाने की आपको आदत नहीं ! और यहाँ जरूरत ने पूरा धावा बोल दिया है। इसलिए बाजार से कुछ मंगा दीजिए।

मौलवी : इक जरा सब्र कीजिये, खाना आता ही होगा।

मैं . अब सब्र बस की बात नही। और दूसरे, मैंने सुना है कि रमज़ान शरीफ़ (फाके के दिन) एक महीना तमाम दुनिया मे सैर करते हैं और ग्यारह महीना इसी मस्जिद मे एकात-सेवन करते हैं।

मौलवी : सच इस वक्त तो कुछ हाजिर नही है। मगर मेरा शागिर्द खाना लेकर आने वाला है।

मैं : और मान लीजिये, असम्भव सम्भव हो जाय—खाना आ भी जाय [illegible] वह आपकी अस्तित्व-रक्षा के लिए भी काफी न होगा, और मेरा [illegible] क्या ? और अगर काफी भी हो तो भी 'इन्तज़ार [illegible]' [illegible] होगी और फारसी मे कहावत है कि सांप के [illegible] का क्या फायदा ?

मौलवी : आप तो बहुत योग्य मालूम होते हैं ?

मैं : मगर मेरी मन्द बुद्धि कहती है कि [illegible]

मौलवी : वाकई ऐसा ही है, मगर...

मैं : (बात काट कर) मगर [illegible]

रही हैं और आप हैं कि व्यर्थ की बातें झाड़े जा रहे हैं।

मौलवी : अच्छा तो मैं अभी लाया।

मैं : बखुदा जरा जल्दी जाइये।

खुदा-खुदा करके मौलवी साहब गये और कोई घंटे-डेढ़-घंटे के बाद चार ख़मीरी रोटियां और एक मिट्टी के प्याले में थोड़ा-सा नीला शोरबा लाकर मेरे सामने रख दिया। देखकर जी जल गया। मौलवी साहब की सूरत देखने लगी! मौलवी साहब कुछ और ही समझे!

मौलवी : (तुरन्त साढ़े चौदह गंडे पैसे, कोई धेले की कौड़ियां चादर के कोने से खोलकर सामने रख दी) सुनिए साहब, चार पैसे की रोटियां हैं, एक पैसे का सालन है, धेला भाज (रेजगारी) में गया। आपकी बकाया आपके सामने है, पहले गिन लीजिए, फिर खाइये।

मैंने एक बार फिर मौलवी साहब की सूरत देखी। मगर भूख बड़ी बला है। जल्दी-जल्दी ग्रास उठाने शुरू किये। जब दो-चार ग्रास खा चुकी, तब मौलवी साहब को सम्बोधित किया, मैंने कहा मौलवी साहब, क्या इस उजड़े शहर में यही खाने को मिलता है?

मौलवी : तो क्या यहां लखनऊ की तरह महमूद की दूकान है जहां पलाव, जरदा आठ पहर तैयार रहता है?

मैं : हलवाई की दूकान तो होगी!

मौलवी : हलवाई की दूकान? यह तो मस्जिद के नीचे ही है!

मैं : तो चार कोस दूर जाना क्या जरूरी था? दो पहर के बाद आये और लेकर क्या आये—मुए कुत्तों का रातिब!

मौलवी : ऐसा तो न कहिए, आदमी खाते हैं।

मैं : आप-जैसे आदमी खाते होंगे! बासी ख़मीरी रोटियां और नीला सालन!

मौलवी : नीला तो नहीं है। अच्छा तो दही ला दूं?

मैं : जी नहीं, रहने दीजिए, माफ कीजिए।

मौलवी : पैसे का ख्याल न कीजिए, मैं अपने पास से लाये देता हूं।

मैं कुछ जवाब भी न दे पाई थी कि मौलवी साहब मस्जिद के बाहर चले गये और एक शकोरे में खुदा जाने कब की सड़ी हुई खट्टी दही उठा लाये और इस

तरह सामने लाकर रख दी मानो आपने हातम की कब्र पर लात मार दी ! किसी तरह मैंने वे चारों रोटियां उगल-निगल कर खाईं और कोई मटकी-भर पानी पिया। वह शोरबा और दही यों ही छोड़कर उठ खड़ी हुई—पैसे, कौड़ियां भी वहीं पड़े रहने दिये। मैं हाथ धोने उठी थी, मौलवी साहब समझे मस्जिद से दफा हो रही है; इसी से बोले, "और यह पैसे और कौड़िया तो उठा लीजिये।" मैं बोली, "मेरी तरफ से मस्जिद में चिरागी चढ़ा दीजिए !" मुंह-हाथ धोकर अपनी जगह पर आ बैठी। मौलवी साहब से बातें करने लगी। कानपुर में मौलवी साहब की वजह से मुझे बहुत आराम मिला। उन्हीं की मारफत एक कमरा किराये पर लिया। नवार का पलंग, दरी, चादनी, पर्दे, तांबे के बरतन और सब जरूरत का सामान खरीद लिया। एक माई खाना पकाने को और एक ऊपर का काम करने को, दो और खिदमतगार रख लिये। ठाठ से रहने लगी ! साजिन्दों की तलाश हुई। यों तो बहुत से आये, मगर किसी का बजाना पसन्द न आया। आखिर लखनऊ का एक तबलची मिल गया। यह खलीफा जी के खानदान का शागिर्द था, इससे खूब संगत मिली। इसी की मारफत कानपुर के दो जरा समझदार सारंगिये बुलाए। साज-बाज सब ठीक हो गया। रात को डेढ़ पहर रात गये तक कमरे पर गाना-बजाना शुरू हो गया। शहर में यह खबर मशहूर हो गई कि लखनऊ से कोई वेश्या आई है। लोग खूब आने लगे। शायरी भी खूब चमकी। कोई दिन ऐसा कम्बख्त रहा होगा जब किसी जलसे में जाना न होता था। मुजरे अधिक होते थे। थोड़े ही दिनों में बहुत-सा रुपया कमा लिया। यद्यपि मुझे कानपुर के लोगों का रंग-ढंग, व्यवहार, बोलचाल पसन्द न थी, बात-बात पर लखनऊ याद आता था, मगर स्वतन्त्र जीवन का कुछ ऐसा आनन्द था कि वापस लखनऊ जाने को जी नहीं चाहता था। मैं जानती थी कि अगर लखनऊ जाऊँगी तो फिर खानम के आधीन रहना पड़ेगा। क्योंकि इस पेशे में रहकर खानम से अलग रहना वहां किसी तरह मुमकिन न था। एक तो इस कारण कि वहां सब वेश्याएं खानम का दबाव मानती थी, अगर मैं अलग रहती तो मुझसे कोई न मिलती ! दूसरे, बढ़िया साजिन्दे मिलने मुश्किल हो जाते। उनके बिना नाच-मुजरे का सिलसिला कैसे चल सकता था ! जिन सरकारों में मेरी पहुँच हुई थी, वह भी खानम की वजह से हुई थी। यद्यपि मेरी गिनती अच्छी गाने वालियों में थी, पर लखनऊ में ऐसी बहुत थीं। वैसे भी अच्छे-बुरे की परख कुछ खास लोगों को ही होती है।

आम लोगों में तो नाम बिकता है। बड़े आदमियों की निगाह अक्सर ऊँचे [illegible] पर ही जाती है। इस हालत में मुझे कौन पूछता! कानपुर में मेरे [illegible] ज्यादा मेरी कदरदानी होती थी। किसी भी अमीर-रईस के यहां कोई शादी [illegible] का मौका न होता था जिसमें मेरा बुलाया जाना गर्व की बात न [illegible] हो। बाहर जाकर ही इस बात का अनुमान हो सकता है कि लखनऊ क्या है! यहां एक साहब हजरत शारक लखनवी बहुत मशहूर हैं। बड़े सिद्ध माने जाते हैं, सैकड़ों आपके शागिर्द हैं। लखनऊ में कोई इनका नाम भी न जानता था। एक दिन का किस्सा सुनिए: एक साहब मेरे कमरे पर तशरीफ लाए! बातचीत के बीच शेर-ओ-शायरी का कुछ चर्चा चला। छूटते ही उन्होंने पूछा, "आप शारक लखनवी को जानती हैं?" मैंने कहा, "कौन शारक?" यह साहब उनके शागिर्दों में से थे, एकदम बिगड़ गये, "मैं तो सुनता था, आप लखनऊ की रहने वाली हैं।"

मैं: जी हां, गरीबखाना तो लखनऊ में ही है।

वह साहब: भला कहीं हो सकता है कि लखनऊ में हो और हजरत उस्ताद को न जानें!

मैं: लखनऊ के मशहूर शायरों में कौन ऐसा है जिसको मैं न जानती हूं। उस्तादों का जिक्र ही क्या है, उनके नामी शागिर्दों में से भी कोई कम ऐसा होगा जिसका कलाम मैंने न सुना हो। उनके पूरे नाम का परिचय तो दीजिए, यह उपनाम तो मैंने कभी नहीं सुना।

वह साहब: (भवें सिकोड़ कर) नाम लेने से क्या फायदा? उनका उपनाम पूर्व से पश्चिम और उत्तर से दक्षिण तक जनता की जबान पर है। हां, आप नहीं जानती, न जानें।

मैं: हुजूर माफ कीजिएगा, मेरे निकट तो यह शायराना अत्युक्ति है। मगर आपके उस्ताद हैं, आपको ऐसा ही कहना चाहिए। अच्छा तो नाम तो बताइए मुमकिन है कि मैंने उपनाम न सुना हो, नाम से जानती होऊं।

वह साहब: मीर हाशिम अली साहब शारक!

मैं: यह नाम बेशक कानों में पड़ा है (इतना कहकर मैं सोचने लगी, या खुदा यह कौन मीर हाशिम अली साहब हैं? आखिर एक साहब का ख्याल हुआ)। आप के उस्ताद मरसिया भी पढ़ते हैं?

वह साहब : जी हां, मर्सिया पढ़ने में भी उनकी मिसाल नही।

मैं : सही फरमाया ! यानी मीर साहब और मिर्जा साहब से भी बढ़े-चढ़े हैं।

वह साहब : उन साहिबों की ही टक्कर के है।

मैं : भला किसका मर्सिया पढ़ते हैं ?

वह साहब : किसी का मर्सिया क्यों पढने लगे ? आप रचते हैं। अभी २७वीं रजब को नया मर्सिया पढ़ा था, बड़ी प्रशंसा हुई।

मैं : तो आपको याद होगा ?

वह साहब : मतला तो याद नही। तलवार की तारीफ मे एक बन्द पढ़ा था, वह मेरी क्या तमाम शहर की जबान पर है। कलम तोड़ दिया है !

मैं : जरा सुनाइए, मैं भी लाभ लू !

वह : "निकली गिलाफे-नूर से तफ़सीर जौहरी।"

मैं : सुभान अल्ला ! इस बद के तो दूर-दूर चर्चे हैं। पाच शेर मुझसे सुन लीजिये। क्या कलाम है !

वह साहब : (बहुत ही खुश होकर) जी हा, आपने यह मर्सिया लखनऊ में सुना होगा। वही तो मैं कहता था कि लखनऊ की रहने वाली और फिर शेर-ओ-शायरी का शौक ! हजरत शारक को न जानती हो, ताज्जुब है ! अच्छा, अब मैं समझा, यह मजाक था।

मेरे जी में तो आया कि कह दूं, आपके उस्ताद मरकेभी जीयेंगे तो ऐसा बंद नही कह सकते, यह मिर्जा दबीर साहब का कलाम है ! मगर फिर कुछ समझ के चुप हो रही।

रुसवा : वाक़ई आपने बड़ी अक्लमंदी की, नही तो बेचारे की रोजी मारी जाती। मीर हाशिम अली साहब शारक की ही बात नही, अक्सर साहबों का यही दस्तूर है—दूसरों का कलाम बाहर जाकर अपने नाम से पढ़ते हैं। कुछ ही दिनों की बात है, एक साहब मेरे एक दोस्त की गजलों का मसौदा चुरा कर ले गये। हैदराबाद दक्कन मे सुनाते फिरे। बड़े-बड़े लोगों से दाद ली। मगर समझने वाले समझ गये। लखनऊ में खत आए। असली लेखक से बात हुई। वह हंस कर चुप रह गए। बहुत-से लोगो ने लखनऊ को ऐसा बदनाम किया है कि अब अपने नाम या उपनाम के साथ लखनवी लिखते शर्म आती है। ऐसे-ऐसे बुजुर्ग

अपने को लखनवी लिखने लगे हैं जिनकी पुश्तें देहात में गुज़र गईं, खुद कुछ दिन विद्यार्थी के रूप में या किसी और सिलसिले में आकर लखनऊ रहे, बस अच्छे खासे लखनवी बन गए ! यद्यपि कुछ गर्व की बात नहीं, मगर झूठ से ही क्या फायदा ?

उमराव : जी हां, बहुत-से लोग इसी तरह लखनऊ-फरोशी करके अपना भला करते हैं। कानपुर में मेरा भी ठीक यही हाल था।

उस ज़माने में रेल तो थी नहीं और न लखनऊ से कोई बाहर जाता था, बल्कि शहर, के कलाकार रोज़ी की तलाश में यहीं (लखनऊ) आते थे—अपने कलाम की योग्यतानुसार दाद पाते थे। दिल्ली उजड़ कर लखनऊ आबाद हुआ था।

रुसवा : इस समय यही हाल दक्कन का है। लखनऊ उजड़ कर दक्कन (हैदराबाद) आबाद हुआ है। मैं तो गया नहीं, मगर सुना है कि मुहल्ले के मुहल्ले लखनऊ वालों से आबाद हैं।

उमराव : जो साहब लखनवी होने का दावा करते हैं, उनसे कहिए कि पहले अपनी ज़बान की मोच निकालें।

रुसवा : क्या बात कही है ! वाकई रोज़मर्रा तो कुछ आ भी जाता है, मगर लहजा नहीं आता।

१५

इत्तिफाक़ाते-ज़माना से यह कुछ दूर नहीं
यूं भी होता है कि बिछड़े हुए मिल जाते हैं !

बिछड़े हुए मिल जाते हैं और फिर कब के बिछड़े हुए—वे जिनके मिलने का सान-गुमान भी न हो ! एक दिन की घटना सुनिए। कानपुर में रहते हुए को छः महीने गुज़र गये थे। प्रसिद्धि इस हद तक हो गई थी कि लोग बाज़ारों और गलियों में मेरी गाई हुई गज़लें गाते फिरते थे ! शाम को मेरे कमरे में बहुत अच्छा जमाव रहता था ! गर्मियों का दिन था, कोई दो बजे का समय होगा, मैं अपने पलग पर अकेली लेटी थी। माई रसोई में खर्राटे ले रही थी। एक

खिदमतगार कमरे के बाहर बैठा पंखे की डोरी खींच रहा था। खस की टट्टियां सूख गई थीं। मैं पानी छिड़कने के लिए आदमी को आवाज दिया ही चाहती थी कि इतने में कमरे के नीचे किसी ने आकर पूछा, '"लखनऊ से जो वेश्या आई है, उसका कमरा यही है ?" दुर्गा बनिये ने (जिसकी दुकान नीचे थी) जवाब दिया, "हां, यही है।" फिर पूछा, "दरवाजा कहां है ?" उसने बता दिया। थोड़ी देर बाद एक बड़ी बी—कोई सत्तर बरस की आयु, गोरी-सी, मुंह पर झुर्रियां पड़ी हुई, बाल जैसे रुई का गाला, कमर झुकी हुई, सफेद मलमल का दुपट्टा, तनजेब का कुर्ता, नैनसुख का बड़े-बड़े पायचों का पाजामा पहने, हाथों में चांदी के मोटे-मोटे कड़े, उंगलियों में अंगूठियां, सोटी हाथ में—हांपती-कांपती हुई आईं और सामने फर्श पर बैठ गईं। एक कोई दस-बारह बरस का काला-सा लड़का उनके साथ था, वह खड़ा रहा। बड़ी बी 'लखनऊ से तुम्हीं आई हो ?' 'जी हां।' इतना कहकर मैं पलंग से नीचे उतर आई। पानदान आगे खिसकाया, आदमी को हुक्के के लिये आवाज दी।

बड़ी बी : हमारी बेगम ने तुम्हें याद किया है लड़के का जन्म-दिन है, जनाना जलसा होगा। तुम्हारे मुजरे का क्या है ?

मैं : बेगम साहब मुझको क्या जानें ?

बड़ी बी : ऐ ! तमाम शहर में तुम्हारे गाने की धूम है, दूसरे, तुम्हारे बुलाने का एक यह भी सबब है कि बेगम साहबा खुद लखनऊ की रहने वाली हैं।

मैं : और आप भी तो लखनऊ की हैं !

बड़ी बी : तुमने कैसे जाना ?

मैं : कहीं बातचीत का लहजा छुपा रहता है ?

बड़ी बी : हां, मैं भी वहीं की रहने वाली हूं। अच्छा, अपना मुजरा तो बताओ। अभी बहुत काम पड़ा है, मुझे देर होती है।

मैं : मुजरा तो मेरा खुला हुआ है, सब जानते हैं—पचास रुपये लेती हूं। मगर बेगम साहबा लखनऊ की हैं और उन्होंने कदर करके बुलाया है तो उनसे कुछ न लूंगी। जलसा कब है ?

बड़ी बी : आज शाम को। अच्छा तो यह रुपया साई का लो, बाकी वहां आकर समझ लेना।

मैं : (रुपया लेकर) इसकी कोई जरूरत नहीं थी। मगर इस ख्याल से कि

कहीं बेगम साहबा बुरा न मानें, रुपया लिये लेती हूं। अच्छा, अब यह कहिये कि मकान कहां है?

बड़ी बी : मकान तो जरा दूर है—नवाबगंज में है। यह लड़का शाम को आयेगा। इसी के साथ चली आना। मगर इतना ख्याल रहे कि कोई तुम्हारे मिलने वालों मे भी मरद तुम्हारे साथ न हो।

मैं : और साज़िन्दे?

बड़ी बी. साज़िन्दे, खिदमतगार—इनकी मनाही नही। कोई और न हो।

मैं : जी नही। यहा मेरा कौन-सा मुलाकाती है जिसे साथ लाऊंगी! खातिर जमा रखिये।

इतने मे खिदमतगार ने हुक्का तैयार किया। मैंने इशारा किया—बड़ी बी के सामने लगा दो। बड़ी बी मज़े लेकर हुक्का पीने लगी। मैं एक पान पर कत्था-चूना लगा कर, डलियों का चूरा एक चुटकी डिबिया से डाल कर और इलायची के दाने पानदान के ढकनो पर कुचल कर, गिलोरी बना के बड़ी बी को देने लगी।

बड़ी बी : हाय बेटा! दात कहां से लाऊं जो पान खाऊं?

मैं : आप खाइये तो। मैंने आपके ही लायक पान बनाया है।

बड़ी बी बैठ गईं। पान लेकर खाया। बहुत ही खुश हुईं। वाह! हमारे शहर की तमीज़दारी के क्या कहने! इतना कहकर दुआएं देती हुई विदा हुईं। चलते-चलते कह गईं, ज़रा दिन से आ जाना, घड़ी-भर दिन रहे गिरह लगाई जायगी!

मैं : यद्यपि मुजरे का दस्तूर नही है, मगर खैर, बेगम साहब ने याद किया है तो मैं जल्दी हाज़िर होकर बधाई गाऊंगी।

वाकई वतन की कदर बाहर जाकर होती है! कानपुर में सैकड़ों जगह मुजरे हुए मगर कही जाने का ऐसा सयोग अभी तक नही हुआ था। जी चाहता था कि जल्दी से शाम हो जाय और मैं रवाना हूं। गर्मियो का दिन पहाड़ होता है। खुदा-खुदा करके इतना दिन काटा। पांच बजते लड़का आ मौजूद हुआ। मैं पहले से ही बनी-ठनी बैठी थी, साज़िन्दों को बुलवा रखा था। लड़के ने उनके मकान का पता दिया, मैं गाड़ी मे सवार होकर रवाना हो गई।

बेगम का मकान शहर से कोई घड़े भर का रास्ता था। छः बजे मैं वहा

और मसनद के सामने रख दिये। साजिन्दों से कहा गया, 'तुम लोग सामने वहां शागिर्दपेशा में चले जाओ,खाना वहीं भेज दिया जायगा। अब यहां जनाना जलसा होगा।' जब वे लोग उठ गये तो बेगम साहब आईं। मैं सम्मान में उठ खड़ी हुई। उन्होंने मुझे पास बुलाया। खुद मसनद पर बैठ गईं और मुझे सामने बैठने का इशारा किया। मैं तस्लीम करके बैठ गई—गाने के लिये आज्ञा की इन्तजार में थी और बेगम साहब की सूरत गौर से देख रही थी—

हैरानी-ए-निगाह तमाशा करे कोई, सूरत वह रूबरू है कि देखा करे कोई।

पहले तो वह बाग और वहां की फिज़ा देखकर मुझे परीस्तान का संदेह हुआ था। मगर अब यकीन हो गया कि परी मेरे सामने गाव तकिये से लगी बैठी है—मांग निकली हुई है, चोटी कमर तक पड़ी हुई, लाल व चिट्टी रंगत का ऊंचा माथा, खिंची हुई भंवें, बड़ी-बड़ी आंखें—जैसे गुलाब की पत्तियां, लम्बी नाक, छोटा-सा दहाना, पतले-पतले नाजुक होंठ! नैन-नक्श में कोई अंग ऐसा न था जिससे बढ़िया कोई उपमा मेरी कल्पना में आ सके। इस पर अंगों का संतुलन और उभार कितना आकर्षक था! सैकड़ों औरतें मेरी नजर से गुजरी हैं, मगर मैंने इस बला की सूरत न देखी थी। छवि खुरशीद से बहुत मिलती थी, मगर कहां खुरशीद, कहां यह? खुर्शीद की सूरत में फिर डूमनीपना था। इसमें यह अमीराना रोब, यह नज़ाकत, यह भरा-भरापन! दूसरे, खुर्शीद इनके सामने कुछ भद्दी ही मालूम होती थी। इन जैसा कामिनी-सा नाजुक-नाजुक छरहरा बदन उसने कहां पाया था? दूसरे, उसकी सूरत पर आठ पहर उदासी बरसती थी—जब देखो बैरागन बनी हुई! बेगम साहबा बहुत ही हसमुख मालूम होती थीं—बात करती थीं जैसे मुंह से फूल झड़ते हों। हर बात पर स्वयं हंस देती थीं। मगर क्या मजाल कि कोई मुंह खोल दे। वाकई सादगी के साथ तकल्लुफ, नम्रता के साथ शोखी इन्हीं में देखी। धनियों की खुशामद सब करते हैं मगर मैं नारी होके कहती हूं कि रईसों की खुशामद भी अगर बेगर्ज की जाय तो कोई ऐब नहीं। लिबास और जेवर भी इसी सूरत के लायक था। महीन बसंती दुपट्टा कंधों पर ढका हुआ, तंग फंसी-फंसी कॅचुली, सुर्ख रेशमी पाजामा, कानों में केवल याकूत के बूंदे, नाक में हीरे की कील, गले में सोने की सादा माला, हाथ में सोने की सुमरनें, बाजुओं पर नौरतन, पांव में सोने की पाजेब। चेहरे की खूबसूरती, लिबास की सादगी और जेवर की स्वाभाविकता यह सब मेरी आंखों के सामने

थीं और मैं आश्चर्यचकित बैठी थी। गौर से उनकी सूरत देख रही थी। मेरा सूरत तो जैसी कुछ है, वह आपके सामने है। मगर विश्वास कीजिए, उनकी निगाह भी किसी और तरफ न थी, मुझी को देख रही थी। दोनों ओर से निगाहें लड़ी हुई थीं। मेरे दिल मे बार-बार एक ख्याल आता था, मगर प्रकट करने का अवसर नही पा रही थी, कहूं तो क्योंकर कहूं ! एक महरी पीठ पीछे खड़ी पखा झल रही थी, दो सामने खड़ी थीं, एक के हाथ में चांदी की लुटिया, दूसरी के पास खासदान ! बडी देर तक न बेगम साहबा ने मुझ से बातचीत की और न मैं कुछ बोल सकी। आखिर उन्होने बातचीत का सिलसिला इस तरह शुरू किया, "तुम्हारा क्या नाम है ?"

मैं : (हाथ बाधकर) उमराव जान।

बेगम : खास लखनऊ मे मकान है ?

यह सवाल कुछ इस ढग से किया गया था कि मुझे जवाब देना मुश्किल हुआ। खासकर इसलिए कि यदि कहती हूं लखनऊ मे मेरा मकान है तो एक मतलब जो मेरे दिल मे था व्यर्थ हो जाता, फैज़ाबाद बताती हू तो व्यर्थ ही भेद खुलने का ख्याल था। आखिर बहुत सोच-समझकर मैंने कहा, "जी हां, लालन-पालन तो लखनऊ मे ही हुआ है।" जवाब देने को तो दे दिया, मगर इसके साथ ही ख्याल हुआ कि अब जो सवाल किया जायगा तो फिर वही दिक्कत पेश आयेगी। मेरा ख्याल गलत नही था। इसलिए कि तुरत बेगम साहबा ने पूछा, "तो क्या पैदायश लखनऊ की नही है ?"

अब हैरान थी कि क्या जवाब दू ! थोड़ी देर चुप रही, जैसे कुछ सुना ही न हो, आखिर बात टाल कर कहा, "हजूर का दौलतखाना लखनऊ मे है ?"

बेगम : कभी लखनऊ मे था, अब तो कानपुर वतन हो गया।

मैं : मेरा भी यही इरादा है।

बेगम : 'क्यों ?' इस सवाल का जवाब देना भी कठिन था, कौन अपनी कहानी कहता ! मैंने कहा, "क्या अर्ज करू ! बेकार कानों को बुरा लगेगा, न कहना ही अच्छा है। कुछ ऐसी ही घटनाएं घटी है कि लखनऊ जाने को जी नही चाहता।"

बेगम : चलो अच्छा है। तो हमारे पास भी कभी-कभी चली आया करो।

और मसनद के सामने रख दिये। साज़िन्दों से कहा गया, 'तुम लोग सामने वहाँ शागिर्दपेशामे चले जाओ, खाना वही भेज दिया जायगा। अब यहा जनाना जलसा होगा।' जब वे लोग उठ गये तो बेगम साहब आईं। मैं सम्मान में उठ खड़ी हुई। उन्होंने मुझे पास बुलाया। खुद मसनद पर बैठ गईं और मुझे सामने बैठने का इशारा किया। मैं तस्लीम करके बैठ गई—गाने के लिये आज्ञा की इन्तज़ार मे थी और बेगम साहब की सूरत गौर से देख रही थी—

हैरानी-ए-निगाह तमाशा करे कोई, सूरत वह रूबरू है कि देखा करे कोई।

पहले तो वह बाग और वहां की फिज़ा देखकर मुझे परीस्तान का संदेह हुआ था। मगर अब यकीन हो गया कि परी मेरे सामने गाव तकिये से लगी बैठी है—माग निकली हुई है, चोटी कमर तक पड़ी हुई, लाल व चिट्टी रगत का ऊंचा माथा, खिची हुई भंवें, बड़ी-बडी आँखें—जैसे गुलाब की पत्तिया, लम्बी नाक, छोटा-सा दहाना, पतले-पतले नाजुक होंठ! नैन-नक्श मे कोई अग ऐसा न था जिससे बढिया कोई उपमा मेरी कल्पना में आ सके। इस पर अगो का सतुलन और उभार कितना आकर्षक था! सैकडों औरतें मेरी नजर से गुजरी हैं, मगर मैंने इस बला की सूरत न देखी थी। छवि खुरशीद से बहुत मिलती थी, मगर कहां खुरशीद, कहां यह? खुर्शीद की सूरत में फिर डूमनीपना था। इसमे यह अमीराना रोब, यह नजाकत, यह भरा-भरापन! दूसरे, खुर्शीद इनके सामने कुछ भद्दी ही मालूम होती थी। इन जैसा कामिनी-सा नाजुक-नाजुक छरहरा बदन उसने कहां पाया था? दूसरे, उसकी सूरत पर आठ पहर उदासी बरसती थी—जब देखो बैरागन बनी हुई! बेगम साहबा बहुत ही हंसमुख मालूम होती थीं—बात करती थीं जैसे मुंह से फूल झड़ते हों। हर बात पर स्वयं हंस देती थी। मगर क्या मजाल कि कोई मुंह खोल दे। वाकई सादगी के साथ तकल्लुफ, नम्रता के साथ शोखी इन्हीं में देखी। धनियो की खुशामद सब करते हैं मगर मैं नारी होके कहती हू कि रईसो की खुशामद भी अगर बेगर्ज़ की जाय तो कोई ऐब नहीं। लिबास और जेवर भी इसी सूरत के लायक था। महीन बसंती दुपट्टा कधों पर ढका हुआ, तग फसी-फंसी कँचुली, सुर्ख़ रेशमी पाजामा, कानों मे केवल याकूत के बूंदे, नाक में हीरे की कील, गले में सोने की सादा माला, हाथ मे सोने की चूड़ियाँ, बाजुओ पर नौरतन, पाँव मे सोने की पाजेब। चेहरे की खूबसूरती, लिबास की सादगी और जेवर की स्वाभाविकता यह सब मेरी आंखो के सामने।

थीं और मैं आश्चर्यचकित बैठी थी। गौर से उनकी सूरत देख रही थी। मेरी सूरत तो जैसी कुछ है, यह आपके सामने है। मगर विश्वास कीजिए, उनकी निगाह भी किसी और तरफ न थी, मुझी को देख रही थी। दोनों ओर से निगाहें लड़ी हुई थी। मेरे दिल में बार-बार एक ख्याल आता था, मगर प्रकट करने का अवसर नहीं पा रही थी, कहूं तो क्योंकर कहूं ! एक महरी पीठ पीछे खड़ी पंखा झल रही थी, दो सामने खड़ी थी, एक के हाथ में चांदी की लुटिया, दूसरी के पास खासदान। बड़ी देर तक न बेगम साहबा ने मुझ से बातचीत की और न मैं कुछ बोल सकी। आखिर उन्होंने बातचीत का सिलसिला इस तरह शुरू किया, "तुम्हारा क्या नाम है ?"

मैं : (हाथ बांधकर) उमराव जान।

बेगम : खास लखनऊ में मकान है ?

यह सवाल कुछ इस ढंग से किया गया था कि मुझे जवाब देना मुश्किल हुआ। खासकर इसलिए कि यदि कहती हूं लखनऊ में मेरा मकान है तो एक मतलब जो मेरे दिल में था व्यर्थ हो जाता, फैज़ाबाद बताती हूं तो व्यर्थ ही भेद खुलने का ख्याल था। आखिर बहुत सोच-समझकर मैंने कहा, "जी हां, लालन-पालन तो लखनऊ में ही हुआ है।" जवाब देने को तो दे दिया, मगर इसके साथ ही ख्याल हुआ कि अब जो सवाल किया जायगा तो फिर वही दिक्कत पेश आयेगी। मेरा ख्याल गलत नहीं था। इसलिए कि तुरन्त बेगम साहबा ने पूछा, "तो क्या पैदायश लखनऊ की नहीं है ?"

अब हैरान थी कि क्या जवाब दूं ! थोड़ी देर चुप रही, जैसे कुछ सुना ही न हो, आखिर बात टाल कर कहा, "हुजूर का दौलतखाना लखनऊ में है ?"

बेगम . कभी लखनऊ में था, अब तो कानपुर वतन हो गया।

मैं : मेरा भी यही इरादा है।

बेगम : 'क्यों ?' इस सवाल का जवाब देना भी कठिन था, कौन अपनी कहानी कहता ! मैंने कहा, "क्या अर्ज करूं ! बेकार कानों को बुरा लगेगा, न कहना ही अच्छा है। कुछ ऐसी ही घटनाएं घटी हैं कि लखनऊ जाने को जी नहीं चाहता।"

बेगम : चलो अच्छा है। तो हमारे पास भी कभी-कभी चली आया करो।

मैं : आना कैसा, मेरा तो अभी से जाने को जी नही चाहता। एक तो आपकी कदरदानी, दूसरे यह बाग, यह फिज़ा ! भला यह क्या संभव है कि कोई एक बार देखे और दोबारा देखने की इच्छा न हो ! विशेषतः मुझ जैसी तेज मिज़ाज की औरत के लिये तो यहां की जल-वायु अक्सीर का असर रखती है।

बेगम : वाह ! तुम्हें यह बंगला बहुत पसंद आया ! न आदमी, न आदम जात ! जिनो का वास। शहर से कोसों दूर ! चार पैसों का सौदा मंगाओ तो आदमी सुबह का गया हुआ शाम को आता है ! खुदा न खास्ता कोई बीमार हो तो जब तक हकीम साहब शहर से आये, तब तक यहां आदमी का काम ही तमाम हो जाय !

मैं : हुजूर, अपनी-अपनी तबीयत ! मुझे तो पसंद है। मैं तो जानती हूं कि अगर यहां रहूं तो मुझे यहां किसी चीज़ की जरूरत ही न हो : दूसरे, ऐसे स्थान पर बीमार होना भी सम्भव नही।

बेगम : जब मैं पहले-पहल यहां आई थी तो मेरा भी यही ख्याल था। कुछ दिन यहां रहकर मालूम हुआ कि शहर के रहने वाले ऐसे स्थान पर नही रह सकते। शहर मे हजार तरह का आराम है। और सब बातो को जाने दो, जब से नवाब कलकत्ता गये है, रातो को डर के मारे नींद नही आती। यूं तो खुदा के दिये सिपाही, चौकीदार, नौकर-चाकर इस समय भी दस-बारह मरद नौकर हैं, औरतो की गिनती नही, मगर फिर भी डर लगता है। मैं तो दो-चार दिन और राह देखूंगी, अगर नवाब जल्दी न आये तो मैं शहर मे कोई मकान लेकर जा रहूंगी।

मैं : कसूर माफ ! आपका मिज़ाज वहमी है। ऐसे विश्वास दिल में न लाया कीजिए। शहर मे जायेंगी तो इस एकांत-वास की कदर खुलेगी। शहर मे वह गर्मी है कि आदमी पिघले जाते हैं। दूसरे बीमारियां ऐसी कि खुदा की पनाह !

ये बातें हो ही रही थी कि इतने में दाया बच्चे को लेकर आई—तीन बरस का लड़का था, माशा अल्लाह गोरा-गोरा, सुन्दर ! ऐसी-ऐसी प्यारी-प्यारी बातें करता था जैसे मैना ! बेगम ने दाया से लेकर बच्चे को गोद मे बिठा लिया। थोड़ी देर खेला-कूदा, फिर दाया को देने लगी कि मैंने हाथ बढ़ा कर ले लिया। बड़ी देर तक लिये रही और प्यार किया, फिर दाया को दे ...

मैं : यूं तो शायद न आती, मगर [बच्चे) क

आऊंगी।

बेगम : (मुस्कराकर) अच्छा, किसी तरह हो, आना जरूर।

मैं : जरूर, जरूर हाजिर हूगी। यह आप बार-बार क्यो कहती हैं, मैं तो इतनी बार-बार आऊंगी कि हजूर को दूभर हो जाऊंगी।

इसके बाद इधर-उधर की बातें होने लगी। बेगम ने मेरे गाने की बहुत प्रशंसा की। इसी बीच महरी ने कहा, खाना तैयार है। बेगम ने कहा, चलो खाना तो खालो।

मैं : बहुत खूब!

बेगम मसनद से उठ खड़ी हुई। मैं भी साथ ही उठी, बेगम ने मेरा हाथ पकड लिया, महरियो को इशारा किया—तुम यही ठहरो, हम खाना खाकर यही बैठेंगे।

मैं : वाकई इस समय का वातावरण तो ऐसा है कि जाने को जी नही चाहता, मगर जैसी आपकी आज्ञा!

बेगम . तो क्या खाना यही मंगवा लिया जाय?

मैं · जी नहीं। अच्छा, खाना खाकर चले आयेंगे।

बेगम : (एक महरी से) इनके साथ के आदमियो को खाना दिलवा दिया गया?

महरी : (हाथ बाध कर) हुजूर दिलवा दिया गया।

बेगम : अच्छा, उन्हें विदा करो। हमने दूसरा मुजरा माफ किया। उमराव जान खाना खाकर जायेंगी।

इसके बाद बेगम और हम दोनों कोठी की तरफ चले। एक महरी आगे-आगे फानूस लिये जाती थी। बेगम ने चुपके-से मेरे कान मे कहा, "मुझे तुम से बहुत-सी बातें करनी है, मगर आज इसका अवसर नही है। कल तो मुझे फुरसत न होगी, परसो तुम सुबह आना और खाना यही खाना।"

मैं : मुझे भी कुछ अर्ज करना है।

बेगम : अच्छा, तो आज कुछ न कहो, चलो खाना खा लें। इसके बाद तुम्हारा गाना सुनेंगे।

मैं : फिर साजिन्दो को तो हुजूर ने विदा कर दिया।

बेगम . हम मरदो के साथ गाना अच्छा नही लगता। मेरी एक दासी तबला

बजाती है, उस पर गाना।

मैं : बहुत अच्छा।

अब हम कोठी के पास पहुंच गये। बहुत बड़ी कोठी थी और इस तरह सजी हुई थी कि शाही कोठियों के देखने के बाद अगर कोई कोठी देखी तो यही। पहले बराडा आया, फिर कई कमरो से होकर गुजरे—हर एक नये ढंग से सजा हुआ था। हर कमरे का फर्श-फरूस, साज-सजावट, शीशे एक नये रंग-ढंग के थे। आखिर हम उस कमरे मे पहुचे जहा दस्तरखान बिछा हुआ था। दस्तरखान पर दो और औरतें प्रतीक्षा में थी—इनमे से एक चिट्ठी-नवीस थी, एक मुसाहब। इन दोनों के कपड़े भी बड़े चमकीले-भड़कीले थे, सूरतें भी अच्छी थीं।

दस्तरखान पर तरह-तरह के खाने—पलाव, बिरयानी, मजफर, मुतंजन, सफेदा, शीरबरज, बाकरखानियां, कई तरह के सालन, कबाब, अचार, मुरब्बे, मिठाइयां, दही, मलाई, गरज कि हर तरह की नेमत मौजूद थीं। लखनऊ से निकलने के बाद आज खाने का मजा आया। बेगम हर तरह की चीजें मेरे आगे रखती जाती थी, मैं यद्यपि कुछ संकोच से खा रही थी, मगर उनके आग्रह ने जरूरत से ज्यादा खिला दिया।

बेसनदानी और तसला आया। हाथ-मुंह धोकर सबने पान खाये। फिर उसी चबूतरे पर जलसा जमा। इस जलसे में बेगम साहबा ही न थी, बल्कि चिट्ठी-नवीस, मुसाहब, मुगलानियां, महरियां, माइयां सब मिला कर कोई दस-बारह औरतें थी। बेगम साहबा ने हुक्म दिया कि तबले की जोड़ी और सितार उठा लाओ। एक मुसाहब जो तबला बजाने मे कुशल थी, तबला बजाने लगी। खुद बेगम साहबा सितार छेड़ने लगी। मुझे गाने का हुक्म हुआ।

खाना खाते दस-ग्यारह बज चुके थे। जब हम गाने को बैठे, ठीक बारह बजे का वक्त था। इस वक्त वह बाग जिसमे बहुत-सा रुपया खर्च करके जंगल और पहाड़ की घाटियो के नमूने बनाये गए थे, अजीब भयानक समां दिखा रहा था। एक तरफ चाद उस आलीशान कोठी के एक कोने से थोड़ी दूर पर घने वृक्षों की शाखो से नजर आता था। मगर अब डूबने ही को था। अंधेरा रोशनी को ढकने लगा था जिससे हर चीज भयानक मालूम देती थी। वृक्ष जितने ऊंचे थे, उससे कहीं बड़े नजर आते थे। हुवा सन-सन चल रही थी। सरू के पेड़ सांय-सांय कर रहे थे। सब तरफ खामोशी छाई थी, केवल तालाब में पानी गिरने की आवाज

तेज महसूस होती थी। कभी-कभी कोई पक्षी अपने घोंसले में चौंककर एक बांग बोल देता था या शिकारी जानवरों के भय से चिड़ियां उड़ती थीं—इससे पेड़ों के पत्ते खड़क जाते थे। या कभी कोई मछली तालाब में उछल पड़ती थी। मेढक अपना बेतुका राग गा रहे थे। झींगुर अपनी झंकार दे रहे थे। सिवा इस चबूतरे के जहां दस-बारह जवान औरतें रंग-बिरंगे लिबास पहने और तरह-तरह के ज़ेवरों से सजी जलसा जमाये बैठी थीं, और कोई आस-पास न था। हवा के झोंकों से कंवल बुझ गये थे। केवल दो मृदगों की रोशनी थी—उनमें भी [illegible] या तारों की छाया थी जो तालाब के पानी में हिलकोरे ले रही थी। हर तरफ अंधेरा था, जादू का-सा समां था। समय और स्थान के अनुसार मैंने मोहिनी राग में एक गाना छेड़ दिया। इस रागिनी के भयानक सुरों ने दिलों पर अपना पूरा प्रभाव डाला। सब स्तब्ध बैठे थे।

मारे भय के बाग की तरफ देखा न जाता था। विशेषतः पेड़ों के नीचे अंधेरा घुप था। सब एक-दूसरे की सूरत देख रहे थे मानो वह भयानक ही स्थान था, और जिधर निगाह उठा कर देखो, भय का वातावरण था। और मैं क्या कहूं खुद मेरा कलेजा धड़क रहा था। दिल में कह रही थी, बेगम ने सच कहा था, निस्सन्देह यह जगह रहने योग्य नहीं है। इतने में पेड़ के सामने से आवाज आई। उसने दिल को और भी हिला दिया। सबके बदन कांपने लगे। अब तो मारे भय के यह हाल था कि किसी के मुंह से बात नहीं निकलती थी। इतने में बेगम ने गाव तकिये से [illegible] सामने घूर कर देखा और जोर से एक चीख मार कर बेहोश हो गईं। और सब औरतें भी उसी तरफ देखने लगीं, मैं भी मुड़कर देखने लगी।

थीं। एक मैं ही खुदा जाने क्या पत्थर का दिल था कि बैठी रही। मारे भय के दम निकला जा रहा था। या खुदा, देखिये क्या होता है ! बेगम के आदमियों में से जिनके पास हथियार थे, वह आगे बढ़ने ही को थे कि सरफराज नामक एक सिपाही ने रोका और अपने साथियों को कहा, "ठहरो, अभी जल्दी न करो। पहले हमें इन लोगों का इरादा मालूम कर लेने दो। (डाकुओं से) तुम लोग किस इरादे से आये हो ?"

एक डाकू : जिस इरादे से आये हैं, तुम्हें अभी मालूम हो जायगा।

सरफराज : वही मैं पूछता हूं, जान चाहते हो या माल ?

दूसरा डाकू : हमे जान से कोई गरज नहीं। कोई बाप-मारे का बैर है ? हां, जिस इरादे से आये हैं, उसमें तुम रुकावट डालोगे तो देखा जायेगा।

सरफराज : (कुछ सख्ती से) तो क्या बहू-बेटियों की आबरू लोगे ? अगर यह उद्देश्य हो तो······

सरफराज पूरी बात भी न कह पाया था कि डाकुओं में से किसी ने कहा, "न साहब, किसी की बहू-बेटियों से क्या वास्ता ? क्या हमारे बहू-बेटियां नहीं हैं ? औरतो के कोई हाथ लगा सकता है ?"

इस आवाज पर मुझे कुछ सन्देह हुआ।

सरफराज : (खुश होकर) तो फिर यही तो मैं पूछता हूं। अच्छा तो भाइयो हम अभी तुम्हें कमरों की चाबियां मंगा देते हैं और जो औरतें वहां हैं, उन्हें यहां बुलवा लेते हैं। घर की मालिक बेगम यही हैं। तुम शौक से कोठी मे जाओ, जो जी चाहे उठा ले जाओ। रहा औरतो का जेवर, वह भी उतरवा देते हैं। हमारा मालिक कुछ इससे गरीब न हो जायेगा। खुदा के हुक्म से लाखों रुपया बैंक में जमा है, इलाके से जो रुपया आता है उसका जिक्र नही।

डाकू : इससे अच्छा क्या है ! मगर देखो इसमे दगा न हो।

सरफराज : सिपाही के पूत दगा नहीं देते। खातिर जमा रखो।

वही डाकू जिसकी आवाज मैंने पहचान ली थी, आगे बढ़ा, "वाह ! क्या कहना ! मरदों के वचन हो तो होते हैं ! अच्छा चाबियां ?" उसने इतना कहा था कि मेरी-उसकी निगाहें मिलीं। मैंने तो पहचान लिया, बोलने का इरादा किया मगर दिल में ऐसा डर समाया था कि मुंह से आवाज न निकलती थी, कि इतने में स्वयं उसने आगे बढ़कर कहा, "भाभी ! तुम यहां कहां ?"

मैं : जबसे तुम्हारे भाई कैद हुए हैं, यहीं हूँ।

फजल अली : यहां किसके पास ?

मैं : रहती तो शहर में हूँ मगर यहां मेरी एक बहन बेगम साहब के पास नौकर है, उनसे मिलने आई थी।

फजल अली : तुम्हारी बहन कहां हैं ?

मैं : यहीं हैं। जबसे तुम लोगों के आने का हंगामा मचा, बेचारी मूच्छित पड़ी हैं। मेरी तरह तो हैं नहीं, बेचारी पर्दे वाली हैं, जवानी में रांड हुई, तबसे अमीर-रईसों की नौकरी करती फिरती हैं।

फजल अली : (अपने साथियों से) यहां से एक पैसे की चीज लेना मेरे लिए हराम है और न मैं इस मामले में तुम्हारे साथ हूँ।

एक डाकू : यह क्या ? फिर आये क्यों थे ?

फजल अली : जिस लिए आये थे, तुम्हें मालूम है। मगर किसी का कुछ ख्याल भी है ? मुझसे तो नहीं हो सकता कि मैं फंजू भाई की आशना और उसकी बहन का माल लूटूं या जिस सरकार से उनकी रोजी हो, वहां हाथ साफ करूँ। अगर वह कैद में सुनेगा तो क्या कहेगा ?

इस बात पर डाकुओं का आपस में बहुत झगड़ा होने लगा। मगर सब फजल अली का दबाव मानते थे, कोई दम न मार सकता था। फिर भी खाली हाथ जाना कुछ ऐसी सहल बात न थी। सब डाकू शोर मचाते थे : "भूखों मरते हैं, एक मौका मिला भी तो इसे खां साहब छोड़ देते हैं। आखिर पेट कहां से पालें ?"

जब फजल अली अपने साथियों से निकल कर अलग खड़े हुए तो उनके साथ ही साथ एक और काला आदमी यह कहता हुआ निकला, "खां साहब, मैं तुम्हारे साथ हूँ।"

गौर से जो देखती हूँ तो मालूम हुआ कि फैज अली का साईस है। मैंने उसे बुलाया। अलग ले जाकर बातें कीं। वह अशरफी और रुपये, जो बेगम साहबा ने इनाम में दिये थे, चुपके से उसे दे दिये।

फजल अली : (सरफराज खां से) भाई, मैं तुम्हारे साथ हूँ। अब तुम जानो और ये लोग।

सरफराज : मैं इन लोगों को अभी राजी किये देता हूँ। मगर यहां से चलो। औरतें बहुत परेशान हो रही हैं। सरकार मूर्च्छा में पड़ी हैं। जरा उनको होश-

में आने दो, हम तुम लोगों को खुश कर देंगे।

डाकू वहां से चले गये। बेगम साहबा अभी तक बेहोश पड़ी थी। दात बैठ गये थे। मैं तालाब से हाथ में पानी लाई। उनके मुंह पर छींटे दिये। बड़ी मुश्किल से होश में आईं। मैंने कहा, "संभलकर बैठिए। खुदा के सदके से वह आफत टल गई है। खातिर जमा रखिये।" और औरतों को भी पानी छिड़ककर उठाया। सब उठ-उठकर बैठी। जब धीरज बंध गया तो मैंने सारा किस्सा सुनाया। बेगम-साहबा बहुत खुश हुई। सरफराज खां को बुलाया।

सरफराज: सरकार, कुछ दे दीजिए। बगैर इसके काम न चलेगा। इस वक्त अगर उमराव जान यहां न होती तो यह आफत न टलती।

मैंने इस बात का जवाब कुछ न दिया। इसलिए कि मैं समझ गई कि इस समय यह भेद की बात इसके मुंह से निकल गई है वरना इस अवसर पर ऐसी बात कहना इनकी शान के खिलाफ है। साराश यह कि बेगम ने संदूकचा मंगाया। पांच सौ नकद और पांच सौ का सोने-चांदी का जेवर देकर उन्हें टाला। सबकी जान में जान आई। बेगम का उस समय का कहना मुझे आज तक याद है, क्यों उमराव जान, बाग में रहने का मजा देखा!

मैं: हुजूर सच कहती हैं।

अब सुबह के तीन बज गये थे। सब लोग उठ-उठकर कोठी में चले गये। उन लोगों के साथ मैं भी उठी। कोठी के बराडे में एक पलंग मेरे लिए बिछवा दिया गया। नींद किसे आती थी! रात-भर जाग रही। सुबह होते सब सो गये, मेरी आंख भी लग गई। अभी नींद भरके सोने न पाई थी कि मेरे खिदमतगार सवारी लेकर आ गये। मुझे जगवाया। मैं आंखें मलती हुई बाहर गई।

खिदमतगार: आप तो खूब यहां आईं! रात-भर हम लोग राह देखते रहे।

मैं: क्योंकर आती? सवारी को तो बिदा कर दिया था।

खिदमतगार: "अच्छा तो अब चलिए। लखनऊ से लोग आपके पास आये हैं।" मैं समझ गई, हो न हों, बुआ हुसैनी और गौहर मिर्जा होंगे, आखिर पता लगा लिया न!

मैं: अच्छा, चलती हूं। सवारी लाये हो?

खिदमतगार: हाजिर है।

जब मैंने जाने का इरादा किया, दो-एक औरतें और जाग चुकी थी। मुझे

रोका कि बेगम साहबा से मिल के जाइएगा। मैंने कहा, "इस वक्त काम है, बेगम साहबा खुदा जानें कब सोकर उठेंगी, ऐसा ही है तो फिर आऊँगी।"

१६

दश्ते' जनू की सैर में बहला हुआ था दिल
जिन्दां' में लाये फिर मुझे अहबाब' घेर के।

घर पर जो आके देखती हूँ, बुआ हुसैनी और मियां गौहर मिर्जा बैठे हुए हैं। बुआ हुसैनी मेरे गले से लिपट गईं। रोने लगीं, मैं भी रो उठी।

बुआ हुसैनी : अल्लाह ! बेटी, क्या कठोर दिल कर लिया ! तुम्हें किसी से प्यार ही नहीं ?

मैं स्वयं शर्मिंदा थी। जवाब क्या देती ? झूठ-मूठ रोने लगी। मामूली बातचीत के बाद बुआ हुसैनी ने उसी दिन लखनऊ चलने का इरादा कर लिया। मैंने लाख आग्रह किया कि ठहर जाओ, पर वे न मानीं। ज्यादा जल्दी का कारण यह था कि मौलवी साहब बीमार थे। बुआ हुसैनी के लिए दम-भर को भी कहीं ठहरना मुश्किल था। ऐसी ही मेरी मुहब्बत थी जो चली आई थीं। वह दिन कानपुर से सामान खरीदने और मकान के किराये तथा नौकरों-चाकरों के हिसाब निपटाने में गुजारा। पूरी गाड़ी किराये पर कर ली थी। जरूरी सामान उस पर लाद लिया और फजूल-फालतू नौकरों को दे दिया। दूसरे दिन लखनऊ पहुँच गये। फिर वही अन्न-जल, वही मकान, वही कमरा, वही आदमी !

१७

देखिए पहुँचे कहां तक शोरशे दिल का असर
सरसरे-वहशत का यह शोला है भड़काया हुआ।

१. पागलपन के जंगल २. कैदखाना ३. यार-दोस्त

नवाब मलका किशवर की सरकार में तोशखाने का सिलसिला सल्तनत के पतन के समय तक रहा। इसी बीच शाहज़ादे मिर्ज़ा सिकन्दर हशमत उर्फ़ जर्नैल साहब के मुजराइयों में मेरा भी नाम हो गया था। नवाब साहब और जर्नैल साहब कलकत्ता चले गये। यह सम्बन्ध टूट गया।

जिस ज़माने में बाग़ी फ़ौज ने मिर्ज़ा बिरजिस कदर को रियासत की गद्दी पर बिठाया, मैं पुरानी होने के नाते तथा इस कारण भी कि मेरा नाम शाही महलों में बहुतों की ज़बान पर था, बधाई देने के लिए बुलाई गई। शहर में अंधेर मचा था। आज उसका घर लुटा, कल वह पकड़ा गया, परसों उसके गोली लगी—चारों तरफ़ क़यामत का सामान नज़र आता था। सय्यद कुतुबुद्दीन नामक एक साहब फ़ौजी अफ़सरों में से थे। उनकी नियुक्ति नवाब साहब के दर पर ही थी। मेरे हाल पर वह बहुत दया करते थे। इसलिए अक्सर वहाँ रहना पड़ता था : मुजरे के लिए भी वक्त-बेवक्त तलब हो जाती थी। इसी कुछ दिनों की हुकूमत के दौरान बिरजिस कदर के ग्यारहवें साल की सालगिरह का जलसा बड़ी धूम-धाम से हुआ। उस जलसे में काश्मीरियों ने यह ग़ज़ल गाई थी :

ग़ैरते-महताब है बिरजिस कदर। गौहर नायाब है बिरजिस कदर॥

मैंने इस अवसर के लिए एक ग़ज़ल रची थी, उसका मतला यह है—

दिल हज़ारों के तेरी भोली अदाएं लेंगी।
हसरतें चाहने वालों की बलाएं लेंगी॥

रुसवा : उमराव जान, तुमने मतला तो क़यामत ही का कहा है। और कोई शेर याद हो तो पढ़ो।

उमराव : ग्यारह शेर कहे थे, मगर आपके सर की कसम सिवा इस मतले के और कोई शेर याद नहीं। वह ज़माना ऐसी आफ़त का था, रात-दिन निगोड़ी जान धड़के में रहती थी। ग़ज़ल एक पर्चे पर लिख ली थी। जिस दिन बेगम साहब कैसर बाग़ से निकली हैं, उस दिन तक वह पर्चा मेरे पानदान में था। फिर जब वहां से निकलना हुआ, हौल और हड़बड़ी में पानदान कैसा, जूतियां और दुपट्टे तक छूट गये।

रुसवा : भला याद है किस दिन बेगम साहब कैसर बाग़ से निकली थीं ?

उमराव : दिन तो याद नहीं, हज़ारी रोज़े के दूसरे या तीसरे दिन !

रुसवा : हाँ, तुम्हें याद रहा। रजब की १६ वीं तारीख थी। भला मोहम्

कौन-सा था ?

उमराव : आखिरी जाड़े थे, नौरोज के चार-पांच दिन बाकी रहे होंगे।

रुसवा : बिल्कुल ठीक ! मार्च की सोलहवीं तारीख थी। अच्छा तुम बेगम साहब के साथ कैसर बाग से निकलीं ?

उमराव : जी हां, बौंडी तक साथ गई थी। रास्ते में नमकहराम और कायर फौजी अफसरों के नखरे और बेगम साहब की खुशामद सारी उम्र न भूलेगी। एक साहब कहते थे, "लो साहब, इनके राज में हम पैदल चलें !" दूसरे फरमाते हैं, "भला खाने का तो सही प्रबन्ध होता !" तीसरे साहब अफीम को पीट रहे थे। चौथे अपनी जान को रो रहे थे कि हुक्का भी समय पर नहीं मिलता। जब बहराइच में अंग्रेजी फौज ने बौंडी पर हमला किया और उसमें सैयद कुतुबुद्दीन मारे गये तो बेगम साहब नेपाल की तरफ रवाना हुईं। मैं अपनी जान बचाकर फैजाबाद चली आई।

रुसवा : सुना है बौंडी में चार दिन के लिए खूब चहल-पहल हो गई थी।

उमराव : आपने सुना है, मैंने इन आंखों देखा है। लखनऊ से भागे हुए सब वहीं जमा हो गये थे। बौंडी का बाजार लखनऊ का चौक मालूम होता था।

रुसवा : अच्छा, इस किस्से में मुझे ज्यादा रुचि नहीं है। यह बताइए कि वह माल जो आपने मियां फैजू से लिया था, उसका क्या हुआ ?

उमराव : (एक ठण्डी सांस भरकर) हाय, यह न पूछिये।

रुसवा : गदर में सब लुट गया ?

उमराव : गदर में लुट जाता तो इतना अफसोस न होता !

रुसवा : फिर क्या हुआ ?

उमराव : सारा किस्सा दोहराना पड़ा ! जिस रात मैं फैजू के साथ भागने वाली थी, मैंने कुल जेवर और अशर्फियां एक पिटारी में बन्द की, ऊपर से खूब कपड़ा लपेट दिया। खानम के मकान के पिछवाड़े एक मीर साहब रहते थे—इमामबाड़े के कोठे की दीवार पर चढ़ जाओ तो उनके मकान के सामने पहुँच जाओ। मैं अक्सर चारपाई लगाकर उस दीवार पर चढ़ जाया करती थी और मीर साहब की बहन से बातें किया करती थी। वह जेवर की पिटारी मैंने उनकी बहन के पास फेंक दी थी और उनसे हाथ जोड़कर कहा था, "इसे सुरक्षित रखना।" उन्होंने मेरे फैजाबाद से आने के बाद वह पिटारी उसी तरह गूदड़ में

लिपटी हुई मेरे हवाले कर दी। गदर में तमाम दुनिया के घर लुटे, अगर वह देतें कि लुट गई तो मैं उनका क्या कर लेती ? मगर वाह री बीबी ! एक कौड़ी का नुकसान न हुआ ! ऐसे ही लोगों से जमीन व आसमान थमा हुआ है नहीं तो कब की क़यामत आ जाती।

रुसवा भला कितने का माल होगा ?

उमराव : कोई दस-पन्द्रह हजार का माल था।

रुसवा : और अब क्या हुआ ?

उमराव : हुआ क्या, जिस राह आया था, उसी राह गया।

रुसवा : मगर लोगों ने तो मशहूर कर रखा है कि तुम्हारी एक कौड़ी भी गदर में नही लुटी, सब माल तुम्हारे पास है।

उमराव : अगर माल होता तो इस हाल में रहती, जैसी अब रहती हूं !

रुसवा : लोग कहते हैं, तुमने अपना कुछ नहीं निकाला है। अगर नहीं है तो खर्च कहां से चलता है। अब भी कुछ बुरे हालों नहीं रहती। दो आदमी नौकर, अच्छा खाना, अच्छा पहनना !

उमराव : खुदा देने वाला है। जो जिसका खर्च है, वह उसको जरूर मिलता है। उस माल की तो एक कौड़ी भी नहीं रही।

रुसवा : अच्छा, तो फिर क्या हुआ ?

उमराव : अब क्या बताऊ, एक मेहरबान···

रुसवा : मैं समझ गया। यह गौहर मिर्ज़ा साहब की करतूत होगी।

उमराव : मैं अपने मुंह से नही कहती। शायद आपका अनुमान गलत हो।

रुसवा : बेशक तुम्हारी उदारता में कोई सन्देह नहीं। देखिए, वह चैन कर रहे हैं और तुम्हे पूछते तक नही !

उमराव : मिर्ज़ा साहब, वेश्या से सम्बन्ध ! रहा रहा, न रहा, न रहा ! अब वह मुझे क्यों पूछें ?

मुद्दत हुई कि तर्के मुलाकात हो गई।

रुसवा : अब कभी आते भी हैं ?

उमराव : वह काहे को आयेंगे ? मैं अक्सर जाया करती हूं। उनकी पत्नी से प्यार हो गया है। अभी चार दिन हुए लड़के की दूध-बढ़ाई की थी तो बुलाया था।

रुसवा . तब भी कुछ दे ही आई होंगी !

उमराव : जी नहीं, मैं किस काबिल हूं जो किसी को कुछ दूंगी !

रुसवा : तो वह माल गौहर मिर्ज़ा साहब के हत्थे लगा।

उमराव : मिर्ज़ा साहब, माल की कोई हकीकत नहीं है, हाथों का मैल है। केवल बात रह जाती है। अब भी अपने पैदा करने वाले के कुर्बान जाऊं, कभी नगी-भूखी नहीं रहती। आप-जैसे कदरदानों को खुदा सलामत रखे। मुझे किसी बात का कष्ट नहीं।

रुसवा इसमें क्या संदेह ! वह तो मैं पहले ही कह चुका हूं, अब भी सौ से अच्छी, हजार से अच्छी हो। वल्लाह, यह तुम्हारी नीयत का फल है। खुदा ने काबा की यात्रा का गौरव भी दिया है।

उमराव : जी हां, खुदा ने सब मुरादें पूरी की हैं। अब यह इच्छा है कि मुझे कर्बला फिर बुला लें। मेरी मिट्टी पवित्र हो जाय। मिर्ज़ा साहब, मैं इस इरादे से गई थी कि लौटकर न आऊंगी। मगर खुदा जाने क्या हुआ कि लखनऊ सिर पर सवार हो गया। मगर अब खुदा ने चाहा और जाना हो गया तो फिर न आऊंगी।

१८

सुन चुके हाल तबाही का मेरी, और सुनो।
अब तुम्हें कुछ मेरी तकरीर मज़ा देती है ॥

बौंडी से बेगमसाहब और बिरजिस कदर नेपाल रवाना हुए। सय्यद कुतुबुद्दीन लड़ाई में मारे जा चुके थे। मैं बड़ी मुश्किलों से फैज़ाबाद आई। पहले सराय में उतरी, फिर सिपोलिये के पास एक कमरा किराये पर ले लिया था। मिरासी रख लिये, गाना-बजाना शुरू कर दिया।

फैज़ाबाद में रहते हुए अब मुझे छः महीने हो गए थे। वहां की जलवायु मेरे बहुत अनुकूल है। दिल लगा था। आठवें-दसवें दिन कोई-न-कोई मुजरा आ जाता था। हज़ारों आदमी टूट पड़ते थे। मेरे कमरे के नीचे लोग प्रशंसा करते हुए निकलते थे। मैं दिल में खुश होती थी। कभी-कभी सपनों की तरह बचपन की बातें याद आ जाती थीं और उनके साथ ही दिल में एक जोश-सा पैदा हो

जाता था। मगर सल्तनत के पतन, गदर, बिरजिस कदर—ये सब के सामने घट चुकी थी, इसीसे कलेजा पत्थर का हो गया था। मां-बाप के ख्याल के साथ ही यह ख्याल आता, "खुदा जाने अब कोई जीवित भी है या नहीं! अगर हो भी तो उन्हें मुझसे क्या मतलब ! उनकी दुनिया और है, मेरी और! धूम का जोश सही, मगर कोई गैरतदार आदमी मुझसे मिलना गवारा न करेगा! अब उनसे मिलने की कोशिश करना उन्हें दुःख पहुंचाना है!" घर का ख्याल आते ही ये बातें दिल में आती थीं, फिर ध्यान और तरफ पलट जाता था।

लखनऊ की याद अक्सर सताती थी। मगर जब बलवे का ख्याल आता था, दिल भर जाता था। "अब वहां कौन है, किसके लिए जाऊं? खानम जीती हैं तो क्या! उनसे अब क्योंकर बनेगी! वही पहले की-सी हुकूमत जतायेंगी। मुझे अब उनकी कैद में रहना किसी तरह मंजूर नहीं। जो माल मीर साहब की बहन के पास अमानत था, वह अब क्या मिलेगा? तमाम लखनऊ लुट गया! मीर साहब का घर भी लुट गया होगा! उसका अब ख्याल ही बेकार है। अगर नहीं लुटा तो भी अभी उसकी जरूरत ही क्या है? मेरे हाथ-गले में जो कुछ है, वह क्या कम है।"

एक दिन मैं कमरे में बैठी थी। एक साहब, सूरत से शरीफ, अधेड़-से तशरीफ लाए। मैंने पान बनाकर दिया, हुक्का भरवाया। हाल पूछने पर मालूम हुआ—बहू बेगम साहबा के सम्बन्धियों में से हैं, वजीफा पाते हैं। मैंने बातों-बातों में मकबरे की रोशनी की भूमिका बांधकर पुराने नौकरों का जिक्र छेड़ा, "पुराने नौकरों में अब कौन-कौन रह गया है?"

नवाब साहब : अक्सर मर गए। नये-नये नौकर हैं। अब वह कारखाना ही नहीं रहा, बिल्कुल नया प्रबंध है।

मैं : पहले नौकरों में एक बूढ़े जमादार थे।

नवाब : हां, थे। मगर तुम उन्हें कैसे जानती हो?

मैं : गदर से पहले मैं एक बार मुहर्रम में फैजाबाद आई थी। मकबरे पर रोशनी देखी थी, उन्होंने मेरी बड़ी खातिर की थी।

नवाब : वही जमादार न जिनकी एक लड़की निकल गई थी?

मैं : मुझे क्या मालूम! (दिल में) हाय! बात अब तक फैली हुई है!

नवाब : यूं तो कई जमादार थे और अब भी हैं। मगर रोशनी आदि का

प्रबंध गदर से पहले वही करते थे।

मैं : एक लड़का भी उनका था।

नवाब : तुमने लड़के को कहां देखा?

मैं : उसी दिन उनके साथ। ऐसी भी शक्ल मिलते कम देखी है! बिना कहे मैं पहचान गई थी!

नवाब : जमादार गदर से पहले ही मर गए। वही लड़का उनकी जगह नौकर है।

उसके बाद बात टालने के लिए मैंने और इधर-उधर के हाल पूछे। नवाब साहब ने सोज पढ़ने की फरमाइश की। मैंने दो सोज सुनाए। बहुत प्रसन्न हुए। रात कुछ अधिक हो गई थी, घर चले गए।

बाप के मरने का हाल सुनकर मुझे बहुत शोक हुआ। उस दिन रात-भर रोई। दूसरे दिन बरबस जी चाहने लगा कि जाकर भाई को देख आऊं! दो दिन के बाद एक मुजरा आ गया। उसकी तैयारी करने लगी। जहां का मुजरा था, वहां गई। मुहल्ले का नाम याद नहीं। मकान के पास एक बहुत बड़ा पुराना इमली का पेड़ था। उसी के नीचे शामियाना ताना गया था। गिर्द कनातें थीं। बहुत बड़ा जमाव था। मगर लोग कुछ ऐसे ही वैसे थे। कनातों के पीछे और सामने खपरैलों में औरतें जमा थीं। पहला मुजरा कोई नौ बजे शुरू हुआ, बारह बजे तक रहा। इस स्थान को देखकर कुछ भय-सा लग रहा था। दिल उमड़ा चला आ रहा था कि यही मेरा मकान है! यह इमली का पेड़ वही है, जिसके नीचे मैं खेला करती थी। जो लोग महफिल में शामिल थे, उनमें से कुछ ऐसे लगते थे कि जैसे उन्हें मैंने कभी देखा है। संदेह मिटाने के लिए कनातों के बाहर निकली। घरों की बनावट कुछ बदल गई थी। इसी से ख्याल हुआ कि शायद यह वह जगह न हो। एक मकान के दरवाजे को गौर से देखने लगी। मन को विश्वास हो गया था कि यही मेरा मकान है, जी चाहता था कि मकान में घुसी चली जाऊं, मां के चरणों पर गिरूं! वह गले लगा लेगी। मगर हिम्मत नहीं होती थी। इसलिए कि मैं जानती थी, रंडियों से देहात में परहेज किया जाता है, दूसरे बाप-भाई की इज्जत का भी ख्याल था। नवाब साहब की बातों से मालूम हो चुका था कि जमादार की लड़की का निकल जाना लोगों को मालूम है। फिर भी जी कहता था, "हाय! क्या गजब है, केवल एक ही दीवार की आड़ है, उधर मेरी मां बैठी होगी औ

इधर मैं उनके लिए तड़प रही हूं। एक नजर सूरत देखना भी संभव नहीं? क्या मजबूरी है!"

इसी उधेड़-बुन में थी कि एक औरत ने आकर पूछा, "तुम ही लखनऊ से आई हो?"

मैं : हां (अब तो कलेजा हाथों से उछलने लगा)।

औरत : "अच्छा, तो इधर चली आओ, तुम्हें कोई बुलाता है।" मैं 'अच्छा' कहकर उसके साथ चली। एक-एक पांव जैसे सौ-सौ मन का हो गया था, कदम रखती थी कहीं, पड़ता था कहीं!

वह औरत उस मकान के दरवाजे पर मुझे ले गई जिसे मैं अपना मकान समझे हुए थी। उस मकान की ड्योढ़ी में मुझे बिठा दिया। अंदर के दरवाजे पर टाट का पर्दा पड़ा हुआ था। उसके पीछे दो-तीन औरतें आकर खड़ी हुईं।

एक : लखनऊ से तुम्हीं आई हो?

मैं : जी हां।

दूसरी : तुम्हारा नाम क्या है?

मैं : (जी में आया कि बता दूं, मगर दिल थाम कर) उमराव जान।

पहली : तुम्हारा वतन खास लखनऊ है?

मैं : (अब मुझसे न रहा गया, आंसू निकल पड़े) असल वतन तो यही है जहां खड़ी हूं।

पहली : तो क्या बंगले की रहने वाली हो।

मैं : (आंखों से आंसू बराबर जारी थे, मुश्किल से जवाब दिया) जी हां।

दूसरी : क्या तुम जात की पतुरिया (वेश्या) हो?

मैं : जात की पतुरिया तो नहीं हूं, तकदीर का लिखा पूरा कर रही हूं।

पहली : (स्वयं रोकर) अच्छा तो रोती क्यों हो? आखिर कहो, तुम कौन हो?

मैं : (आंसू पोंछकर) क्या बताऊं कौन हूं, कुछ कहते नहीं बनता।

इतनी बातें मैंने बहुत दिल संभालकर की थीं। अब संयम बिलकुल न रहा था। सीने में दम रुकने लगा था। इतने में दो औरतें पर्दे से बाहर निकलीं। एक के हाथ में दीया था। उसने मेरे मुंह को हाथ से थामकर कान को लव के पास से देखा और यह कहकर दूसरी को दिखाया, "क्यों हम न कहते थे, वही है?"

दूसरी : 'हाय ! मेरी अमीरन !' यह कहकर लिपट गई। दोनों मा-बेटियां चीखें मार-मारकर रोने लगीं। हिचकियां बंध गईं। आखिर दो औरतों ने आकर छुड़ाया। उसके बाद मैंने अपना सारा किस्सा सुनाया। मेरी मा बैठी सुनती रही और रोती रही। शेष सारी रात हम दोनों वहीं बैठे रहे। सुबह होते ही मैं विदा हुई। मा ने चलते समय जिस हसरत-भरी निगाह से मुझे देखा था, वह निगाह मरते दम तक न भूलेगी। मगर मजबूरी ! दिन अच्छी तरह निकलने न पाया था कि सवारी पर अपने कमरे में चली आई। दूसरा मुजरा सुबह को होना था, पर मैंने घर आकर कुल रुपया मुजरे का वापस कर दिया और बीमारी का बहाना बनाया। दुल्हा के बाप ने आधा रुपया मुझे लौटा दिया। उस दिन, दिन-भर मेरा जो हाल रहा, खुदा ही जानता है। कमरे के दरवाजे बन्द करके दिन-भर पड़ी रोती रही।

दूसरे दिन शाम को, कोई आधी घड़ी रात गए एक नौजवान-सा आदमी, सांवली रंगत, कोई बीस-बाईस साल का, पगड़ी बांधे, सिपाहियों-जैसी वर्दी पहने मेरे कमरे में आया। मैंने हुक्का भरवा दिया। पानदान में पान न थे, माई को बुलाकर चुपके-से पान लाने को कहा। संयोग से और कोई उस समय न था, कमरे में मैं थी और वह।

जवान : 'कल तुम्हीं मुजरे को गई थीं ?' यह इस तेवर से कहा कि मैं झिझक गई।

मैं : 'हां।' इतना कहकर उसके चेहरे की तरफ जो देखा, मालूम होता था जैसे आंखों से खून टपक रहा है।

जवान : (सिर नीचा करके) खूब घर का नाम रोशन किया !

मैं : (अब समझी कि यह कौन है) इसको तो खुदा ही जानता है।

जवान : हम तो समझे थे कि तुम मर गईं, मगर तुम अब तक जिन्दा हो !

मैं : बेगैरत जिन्दगी थी, न मरी। खुदा मुझे जल्द मौत दे !

जवान : बेशक, इस जिन्दगी से मौत लाख दर्जे अच्छी थी। तुम्हें तो चुल्लू-भर पानी में डूब मरना था, कुछ खा के ही सो रहती।

मैं : स्वयं इतनी समझ न थी, न आज तक किसी ने नेक सलाह दी।

जवान : अगर ऐसी ही गैरत होती तो इस शहर में कभी न आतीं। और आई भी थीं तो उस मुहल्ले में मुजरे को न आना था, जहां की रहने

मैं : हां, इतनी खता जरूर हुई मगर मुझे क्या मालूम था !

जवान : अच्छा अब तो मालूम हो गया ?

मैं : अब क्या होता है ?

जवान : (बहुत ही क्रुद्ध होकर) "अब क्या होता है ? अब क्या होना है! अब (छुरी कमर से निकालकर मुझ पर झपटा। दोनों हाथ पकड़कर गले पर छुरी रख दी) यह होता है।" इतने में माई बाजार से पान लेकर आई। उसने जो यह हाल देखा, लगी चीखने, "अरे दौड़ो, बीबी को कोई मारे देता है।"

जवान : (छुरी गले से हटाकर, हाथ छोड़ दिये) "औरत को क्या मारूं, और औरत भी कौन ? वडी…?" इतना कहकर धाड़ें मार-मार रोने लगा। मैं पहले से रो रही थी। जब उसने गले पर छुरी रखी थी, प्राणों के भय से एक धक्का-सा कलेजे को लगा था। उससे बेजान-सी हो गई थी। जब वह छोड़कर रोने लगा तो मैं भी रोने लगी।

माई ने दो-एक चीखें मारी थीं। जब उसने यह हाल देखा, कुछ चुप-सी हो रही। इधर मैंने इशारे से मना किया, वह एक किनारे खड़ी हो गई। जब दोनों खूब रो-धो चुके तो जवान ने हाथ जोड़कर कहा, "अच्छा, तो इस शहर से कहीं चली जाओ।"

मैं : कल चली जाऊंगी। मगर एक बार मां को और देख लेती !

जवान : बस अब यह ख्याल दिल से दूर रखो। माफ करो। कल अम्मां ने घर पर बुला लिया। मैं न हुआ, नहीं तो उसी समय वारा-न्यारा हो जाता। मुहल्ले-भर में चर्चा हो रहा है।

मैं : तुमने देख लिया, जान से तो मैं डरती नहीं। मगर हाय ! तुम्हारी जान का ख्याल है। तुम अपने बच्चों के लिए सलामत रहो। खैर, अगर जीते रहे तो कभी-न-कभी कुशल-समाचार सुन ही लिया करेंगे।

जवान : खुदा के वास्ते किसी से हमारा जिक्र न करना।

मैं : "अच्छा।" वह जवान तो उठकर चला गया। मैं अपने दुःख में डूबी थी। माई ने और जान खानी शुरू कर दी, "यह कौन थे ?"

मैं : वेश्या के मकान पर हजारों आदमी आते हैं, कोई थे, तुम्हें क्या ?

बहरहाल माई को टाल दिया। रात को सो रही। सुबह उठकर लखनऊ चलने की तैयारी की। शाम तक गाड़ी किराया करके रवाना हो गई।

१९

लखनऊ में आकर खानम के मकान पर उतरी। वही चौक, वही कमरा, वही हम हैं। पहले आने वालों में से कुछ लोग कलकत्ता चले गए थे। कुछ और शहरों में निकल गए थे। शहर में नया इन्तजाम, नये कानून जारी थे। आसफुद्दौला के इमामबाड़े में किला था। चारों तरफ खत्म हुआ था। जगह-जगह चौड़ी-चौड़ी सड़कें निकल रही थीं। गलियों में खरंजे बनाये जा रहे थे। नाले-नालियां साफ की जाती थीं। गरज कि लखनऊ अब और ही कुछ हो गया था।

मैं दो-चार महीने खानम के मकान पर रही। इसके बाद कुछ हीले से एक कमरा अलग लेकर रहना शुरू किया। समय-परिवर्तन के साथ खानम की नयीयत भी कुछ बदल गई थी। मिजाज में कुछ बेपरवाही-सी हो गई थी। जो वेश्याएं निकलकर अलग हो गई थीं, उनका तो जिक्र क्या, जो साथ रहती थीं, उनके रुपये-पैसे से भी कोई वास्ता न था। मेरा अलग हो जाना भी कुछ उनके मिजाज के विरुद्ध न गुजरा। दूसरे-तीसरे दिन मैं जाती थी, सलाम करके चली आती थी। इसी समय नवाब महमूद अली खां साहब से मेरा मेल-जोल बढ़ा। पहले कुछ दिनों वे तशरीफ लाते रहे, फिर नौकर रख लिया। उसके बाद मुझे पाबन्द करना चाहा। भला यह मुझसे कब हो सकता था कि लखनऊ में रहूं और पुराने मिलने वालों से मिलना-जुलना छोड़ दूं! जब मैंने नवाब साहब की नीयत का यह रंग देखा तो सम्बन्ध तोड़ना चाहा। नवाब साहब ने अदालत में दावा कर दिया कि मुझसे निकाह हुआ है। [illegible] से [illegible]। मुकदमे की पैरवी में हजारों रुपया खर्च हो गया। [illegible] अदालत में [illegible] नवाब साहब के हक में हुआ। अब मुझे [illegible] होना पड़ा। [illegible]। वकील की मारफत अपील की। अपील में नवाब साहब हारे। नवाब साहब ने उच्च न्यायालय में अपील की। वहां भी हारे। अब [illegible] देना शुरू किया, "मार डालूंगा, [illegible] लूंगा।" [illegible] रक्षा के लिए दस-बारह [illegible] नौकर रखने पड़े। [illegible], आखिर दीवानी के साथ होने [illegible] पड़ा। आखिर मैंने [illegible] में मुकदमे का दावा किया। [illegible]

दिया कि नवाब साहब निस्संदेह जान पर पड़े हुए हैं। हाकिम ने नवाब साहब से मुचलका ले लिया। अब जाकर जान छूटी। छः बरस तक इन मुकद्दमों में फंसी रही। खुदा-खुदा करके छुटकारा हुआ।

जिस समय नवाब साहब से मुकद्दमा लड़ा जा रहा था, एक साहब अकबर अली खां नामक, मुख्तार पेशा, चलते-पुर्जे, आफत के परकाले, अनुचित कार्रवाइयों में निपुण, जालसाजी में उस्ताद, झूठे मुकद्दमे बनाने में अद्वितीय, अदालत को धोखा देने में जमाने-भर में एक, मेरी तरफ से पैरोकार थे। उनकी वजह से अदालती कामों में बहुत मदद मिली। सच तो यह है, अगर वह न होते तो नवाब से जीतना न होता। यद्यपि सचाई यह थी कि मेरा नवाब से कभी कोई निकाह न हुआ था मगर अदालतों में अक्सर सच्ची बात के लिए भी झूठे गवाह पेश करने होते हैं। दूसरे पक्ष की ओर से बिल्कुल झूठा दावा था। मगर मुकद्दमा इस सलीके से बनाया गया था कि कोई सूरत बचने की न थी। निकाह के सबूत में दो मौलवी पेश किए गए थे—जिनके माथों पर सिजदा-पाक के घट्टे पड़े थे, बड़े पगगड़ सिर पर, कंधों पर चादरें, हाथों में कंठे, पांव में जूतियां, बात-बात में अल्लाह, रसूल का नाम—उनकी सूरत देखकर हाकिम तो क्या किसी भी नेक-नीयत आदमी को झूठ-फरेब का सन्देह नहीं हो सकता था। उनमें से एक बुजुर्ग ने कहा कि मैं वकील-नाकेह था, दूसरे ने कहा कि मैं मनकूहा की (मेरी) ओर से था। मगर फिर सचाई सचाई है और झूठ झूठ। जिरह में बिगड़ गए। नवाब के और गवाह उनसे भी ज्यादा बिगड़े और उन्हीं की गवाही के कारण नवाब अपील हार गये। फौजदारी में मेरी ओर से जो गवाह पेश किये गए थे, वे सब अकबर अली के तैयार किये हुए थे, बिल्कुल न बिगड़े।

अकबरअली खां का आना-जाना मेरे यहां बहुत समय तक रहा। उन्होंने मेरे साथ दोस्ती का पूरा हक अदा किया। एक कौड़ी नहीं ली। बल्कि अपने पास से बहुत-कुछ खर्च किया। वाकई उन्हें मेरे साथ मुहब्बत-सी थी। मेरा निजी अनुभव है कि बुरे आदमी भी बिल्कुल बुरे नहीं होते। किसी-न-किसी के प्रति भले जरूर होते हैं। पुराने जमाने के चोरों की बाबत आपने सुना होगा कि से दोस्ती कर लेते थे उसका पूरा निबाह करते थे। बगैर कुछ नहीं चलता। जो आदमी सबसे बुरा हो, वह होकर रहे नवाब से मुकद्दमा चलता रहा, मैं किसी अ स न

कि कहीं उसका भेजा हुआ गुप्त भेद लेने न आया हो और किसी तरह की हानि न पहुंचाए। अकबर अली खां कचहरी से लौटकर यहीं आते थे। शाम को यहीं नमाज पढते थे। घर से खाना आताथा। मैंने बहुत जोर दिया कि मकान से खाना मगाने की क्या जरूरत है ? मगर वे न माने। आखिर मजबूर होकर चुप हो रही। मेरे घर के खाने से इन्कार भी न था, मैं भी उन्ही के साथ खाना खाती थी। उन दिनों मैं भी नमाज की पाबंद हो गई थी। अकबर अली खां को ताजियादारी का बड़ा चाव था। रमजान और मुहर्रम में वह इतने नेक काम करते थे कि जिससे उनके साल-भर के गुनाह माफ हो जाते थे। यह सही हो या गलत, उनका यही विश्वास था।

रुसवा : यह ईमान का मामला है, इसलिए मुझे इतना कह लेने दीजिए कि यह विश्वास सही नही है।

उमराव . मेरा विचार भी यही है।

रुसवा : बुद्धिमानो ने पाप के दो रूप बताये हैं, एक वह जिसका प्रभाव अपने तक सीमित रहता है, दूसरे वह जिसका असर दूसरों तक पहुंचता है। मेरी राय मे पहले प्रकार का गुनाह छोटा और दूसरा बड़ा है। हो सकता है और लोगों की राय इसके विरुद्ध हो। जिन गुनाहों का असर दूसरों तक पहुंचता है, उनसे क्षमा उन्हीं लोगो से मिल सकती है, जिन पर उनका बुरा असर पडा हो। तुमने ख्वाजा साहब का वह शेर सुना होगा :

मै खुरद मसहफ बसोजो आतिश दर काबा जन,
साकिने बुतखाना बाश ओ मरदुम आजारीमकुन।

(शराब पी, नमाज की चटाई जला दे और काबे मे आग लगा दे, बुतखाने मे रिहाइश कर ले, मगर मनुष्य को न सता)

उमराव जान ! याद रखो, मनुष्य को सताना बहुत बुरी बात है, इस पाप से छुटकारा कही नही है और इससे भी छुटकारा हो तो खुदा की खुदाई बेकार है।

उमराव : मेरा तो बाल-बाल गुनहगार है, मगर इससे मैं भी कांपती हूं।

रुसवा : मगर तुमने दिल बहुत सताये होगे !

रुसवा : यह तो हमारा पेशा है ! इसी दिल सताने की बदौलत हमने लाखों कमाये, हजारो उड़ाए।

रुसवा : फिर इसकी क्या सजा होगी ?

उमराव : इसकी कोई सजा न होनी चाहिये। हमने जिस तरह की दिल-आजारी की, उसमें एक तरह का मजा है, जो इस दिल दुखाने के बदले में मिलता है।

रुसवा : क्या खूब !

उमराव : मान लीजिए, एक साहब ने हमको मेले-तमाशे में देख लिया, मरने लगे। कौड़ी पास नहीं। हम बगैर लिए मिल सकती नहीं। उनका दिल दुखता है। फिर इसमें हमारा क्या कसूर ? दूसरे साहब हमसे मिलना चाहते हैं, रुपया भी देते हैं, हम एक और की पाबंद हैं या उनसे मिलना नहीं चाहती—अपना दिल ! उनकी जान पर बनी है ! फिर हमारी बला से ! कुछ लोग हमारे पास इस तरह के आते हैं जो यह चाहते हैं कि हमें चाहो। हम नहीं चाहते। कोई जबर्दस्ती है ? इससे उनको सदमा पहुंचता है, तो हमारी जूती से !

रुसवा · ये सब गोली मारने के लायक हैं। मगर खुदा के लिए कहीं मुझे उनमें से किसी में न गिन लीजिएगा।

उमराव : खुदा न करे। आप सौभाग्यशालियों में हैं। न आप किसी को चाहते हैं, न कोई आपको चाहता है। और फिर आप सबको चाहते हैं और सब आप को !

रुसवा : यह क्या कहा ? एक बात है, नहीं भी है ! कहीं ऐसा हो सकता है ?

उमराव मैंने तर्क-शास्त्र तो ज्यादा पढा नहीं। मगर ऐसा हो सकता है—जब एक बात के दो पहलू हों। एक चाहना बुद्धि से होता है, एक मूर्खता से।

रुसवा : इसका कोई उदाहरण ?

उमराव : पहले का उदाहरण जैसे आप मुझे चाहते हैं, मैं आपको।

रुसवा खैर, मेरे चाहने का हाल तो मेरा दिल ही जानता है और आपके चाहने का हाल आपकी स्वीकृति से मालूम हो गया। आगे चलिए, दूसरा उदाहरण ?

उमराव : खैर, नहीं चाहते तो मेरा बुरा चाहते होंगे ! दूसरे की मिसाल सुनिए। जैसे खुदा से फरियाद !

रुसवा . नहीं, यह उदाहरण गलत है, और दीजिए।

उमराव : अच्छा, मैंने कहा [illegible]
रुसवा : आप भी क्या [illegible] हैं ?
उमराव : अच्छा, मैंने कहा—
रुसवा : (बात काटकर) मैंने भी कहा [illegible]। इस अवसर पर मुझे एक शेर याद आता है, सुन लीजिए :

क्या कहूँ तुम से [illegible],
तुम को [illegible] हो।

उमराव : हाँ, [illegible]।
रुसवा : [illegible] क्यों नहीं रहते ?
उमराव : दुनिया खाली नहीं है।
रुसवा : हाँ, मैंने सुना था, [illegible] घर बैठ गई थीं !
उमराव : सुनिए तो सही। फिर [illegible] जिनकी अदालत से छोड़ गए थे और मैं [illegible] थी, उन्होंने [illegible] मुझे अपने मकान पर ले गए थे। कई बरस वहाँ रहने का संयोग रहा। उस समय तीन आदमी इस धोखे में थे कि मैं [illegible] घर बैठ गई। एक तो खुद [illegible], दूसरे उनकी पत्नी, तीसरे का नाम नहीं बताऊँगी।
रुसवा : मैं बताऊँ ?
उमराव : कौन थे ?
रुसवा : यही नहीं।
उमराव : तो फिर और कौन ? बताइए।
रुसवा : आप बताइए।
उमराव : ऐसे किसी और को बताइए।
रुसवा : [illegible] ! मैं एक पर्चे पर लिखकर रख देता हूँ, आप बताइए।
उमराव : ठीक।
रुसवा : पर्चा लिखकर रख दिया, अब कहिए।
उमराव : 'मैंने, मैं खुद !' पर्चे में लिखा था, [illegible]
उमराव : [illegible], खूब [illegible] है !
रुसवा : [illegible] हूँ। हाँ, तो क्या हुआ ?

उमराव : गुजरी क्या, सुनिए : एक तो उन्होंने मुझे एक छोटे-से मकान में ले जाकर उतारा जो उनके मकान से मिला हुआ था। खिड़की बीच में थी। मुख्तसर कच्चा-सा मकान, एक छोटी-सी दलनिया, आगे छप्पर, एक ओर छप्पर सामने पड़ा हुआ। इसमें दो चूल्हे बने हुए—यह क्या है? बावर्चीखाना! और सब बातें भी ऐसे ही समझ लीजिए। इसी मकान में रहू भी, और मियां के घुले-मिले दोस्त भी आया चाहें! उनमे से एक साहब रईस, शेख अफजल हुसैन, छूटते ही भौजी कहने लगे। उनके बेतुकेपन ने नाक मे दम कर दिया। पानों की फरमाइश से तंग आ गई। हरदम यही मांग, "भौजी, पान न खिलाओगी!"

एक दिन, दो दिन, आखिर मुरौवत कहां तक? हद यह कि पानदान उनके आगे सरका दिया। उस दिन से मैं अलग हो गई, पानदान पर उन्होंने कब्जा कर लिया। जैसे कोई मौरूसी माल पर कब्जा करता है। पान इस बदतमीजी से खाते थे कि देखने वालों को खामखाह नफरत हो जाय! कत्थे-चूने की कुल्हियों में उंगलियां पड़ रही है, जबान से चाट रहे हैं। मैंने जब यह ढंग देखा, चिकनी डली और इलायची पर गुजर करने लगी। उसमे भी वह साझा लगाते थे। एक और साहब, वाजिद अली, अक्सर खासतौर से खाने के समय तशरीफ लाते थे। अब याद नही कि अकबर अली खां के कैसे सम्बंधी भाई थे? उनकी रुचि मे गंदगी हद से ज्यादा थी।

इन दोनों के अलावा अकबर अली खा के जिगरी दोस्त और बहुत-से थे जिनमे अक्सर को मुकद्दमेबाजी का शौक था। रात-दिन कानून छटा करता था। मगर जब मिर्जा साहब तशरीफ ले जाते तो इक जरा शांति हो जाती। कुछ दिनों में ही इस मकान में मेरी तबीयत उकता गयी। कही और प्रबध करने की सोच ही रही थी कि एक दिन ऐसा सयोग हुआ, अकबर अली खां किसी मुकद्दमे में फैजाबाद गए, अफजल अली अपने साथ। संयोग से मकान में कोई नही! दरवाजे की कुंडी मैंने बंद कर ली, मैं अकेली बैठी थी कि इतने मे जनाने मकान की दीवार वाली खिड़की खुली और अकबर अली खा की बीवी अंदर चली आईं। मुझे चाहे-अनचाहे सलाम करना पड़ा। आगन में नक्शी का चौका बिछा हुआ था। उसी के पास मेरा पलग लगा था। पहले तो बड़ी देर तक चुपकी खड़ी रही। आखिर मैंने कहा, बैठ जाइए। वह बैठ गई।

मैं : हम गरीबों पर बड़ी कृपा की। आज इधर कहा तशरीफ आई?

बीवी : तुम्हें मेरा आना बुरा लगा हो तो चली जाऊं ?

मैं : जी नहीं, आपका घर है। मुझे ऐसी आज्ञा हो तो उचित भी है।

बीवी : बातें न बनाओ। अगर मेरा घर है तो तुम्हारा भी घर है। और सच ो तो न मेरा, न तुम्हारा। घर तो घर वाले का है।

मैं : जी नहीं, खुदा रखे आपके घरवाले को। घर तो उनका भी है और आप भी।

बीवी : तुम अकेली बैठी रहती हो। आखिर हम भी इन्सान हैं, इधर क्यों ो चली आती ? हां, मियां का हुक्म न होगा।

मैं : मियां के हुक्म के तो कुछ ऐसी अधीन नहीं हूं, हां, आपकी इजाजत की रूरत थी, वह मिल गई। अब हाज़िर हूंगी।

बीवी : अच्छा, तो चलो।

मैं : 'चलिए।' मकान में जाकर देखती हूं, खुदा का दिया सब-कुछ था, तांबे मटके, देग, गगरियां, पतीलियां, लोटे, नवार के पलंग, मसहरी, तख्तों की ोकियां, फर्श-फरूस—मगर किसी बात का करीना और ढंग नहीं। आंगन में गह-जगह कूड़ा पड़ा हुआ है। रसोई में सामने बुआ अमीरन खाना पका रही ो। मक्खियां भिन-भिन कर रही थीं। तख्तों के चौके पर पीक के चकत्ते पड़े हुए, ावी के पलंग पर मनों कूड़ा! इमामन ने पानदान लाकर बीवी के सामने रख या। कत्थे-चूने के धब्बों से सारा पानदान सना हुआ था। देखकर मेरा तो जी झ गया।

बीवी ने पान लगाकर दिया। मैंने चुटकी में दबा लिया। बातें करने लगीं। सी बीच मुहल्ले की एक बुढ़िया आ निकली। जमीन पर पसर कर बैठ गई। ारी तरफ संकेत करके बीवी से पूछा, "यह कौन हैं ?"

बीवी : अब तुम्हें क्या बताऊं ?

मैं चुपकी रही और बुढ़िया (अकबर अली की बीवी से) : ऊंई, जैसे मैं जानती हीं!

मैं : बड़ी बी, फिर जानती हो तो इसका पूछना क्या ?

बुढ़िया : "ऊंई बी, तुमसे मैं बात नहीं करती। मैं तो अपनी बहू साहब से ूछती हूं। मेरा मुंह तुमसे बात करने के लायक नहीं, तुम बड़ी आदमी!" मैं बुढ़िया का मुंह देखकर चुप हो गई।

बीवी : लो उठो, यहां से टलो, नहीं तो लेती हूं हाथ में जूती।

बुढ़िया : (एक ठठा लगाकर) 'आज तो हम जूतियां खा के ही जाएंगे। मारो, बाप की बेटी हो !' बाप के नाम पर बीवी को गुस्सा आ गया। चेहरा लाल गया, थर-थर कांपने लगीं।

बीवी : दूर हो यहां से ! कहती हूं।

बुढ़िया : अब तो हम जूतियां खाके ही जाएंगे।

बीवी : (मुझसे) देखा, यह मुझे जिद् दिला रही है, बेमारे मुई को न छूंगी।

मैं : जाने भी दीजिए ! मुई, बेतुकी है।

बुढ़िया : (मुझसे) तू कुछ न बोलना, मालजादी ! तुझे तो कच्चा ही खा ऊंगी।

बीवी : (जूती पैर से लेकर) एक, दो, तीन ! अब राज़ी हुई !

मैं : बेगम, जाने दीजिए (हाथ से जूती छीन ली)।

बीवी : नहीं, तुम न बोलो, मुई का कचूमर निकाल डालूंगी।

बुढ़िया : और मारो।

बीवी ने दूसरे पैर से जूती निकाल कर चार-पांच और लगाईं। अब तो ढ़िया ने ज़मीन पर पांव फैला दिये और ज़मीन पर दोहत्थड़ मारना शुरू कर या। हाय ! हाय ! हाय ! मुझे जूतियां मारीं। अब तो दिल ठंडा हो गया। ौत की जलन मुझ पर उतारी। 'हाय मार डाला, हाय मार डाला' चिल्ला-वल्ला कर दुहाई देना शुरू कर दिया। रसोई से बुआ अमीरन उठके दौड़ी, बड़ी गम साहब अपने दालान से चली आईं। एक आफ़त टूट पड़ी। बड़ी बेगम को ाता देखकर और भी दुहत्थड़ मारना शुरू किये, इस बुढ़ापे में मुझे जूतियां खलवाईं !'

बेगम साहब : ले, मुझे क्या मालूम कि तुम पर जूतियां पड़ रही हैं, नहीं तो ाकर बचा लेती ! आखिर बात क्या हुई ?

बुढ़िया : (मेरी तरफ इशारा करके) इस मालजादी ने मार खिलवाई, अरे इसने मार खिलवाई !

मैं ठग-मारी-सी हो गई। बेगम साहब से इस समय मेरा सामना हुआ ! कुछ कहते बन नहीं पड़ा।

बीवी : ओह बुढ़िया ! जरा-सी बात में झाड़ का कांटा हो गई !

बुढ़िया : तुम तो इस तरह बात छिपाती हो जैसे हम दुश्मन हैं। ऐ वो, तो इनकी भलाई के लिए बात करते हैं, यह हमी से उल्टा बिगड़ती हैं।

बीवी . लो, बस अपनी भलाई रहने दो। बुआ ! तुम्हारा किसी के जोर है ?

बुढ़िया : "हमारा जोर क्यों होने लगा। अब जो नई-नई जाएंगी, उनका जोर होता जाएगा।" बुढ़िया की इस बात पर मुझे एकदम आ गई। मुंह फेर कर हंसने लगी।

बीवी : क्यों नहीं ! ऐ तुम मेरी सौत हो। (मुझे सम्बोधित करके) लो। खां साहबकी पहली बीवी यही हैं। लो बीवी, तुम असल में इनकी सौ मैं तो इनके बाद आई हूं।

बुढ़िया : हू ! अपने होते सौतों की ये बातें मुझे अच्छी नहीं लगतीं। मुं गालियां देती हो ! मुई रंडियो, वेश्याओं की संगति में और क्या सीखोगी ! तो सीखोगी ! लो, इतने दिन मुझे आए हुए, बड़ी बेगम साहबा (अकबर की मा) ने आधी बात मुंह से नहीं कही ! बहू साहब ऐसी गुणवती हैं कि मुहल्ले बुढ़ियों को गालियां देती हैं !

बीवी : (गुस्सा होकर) मैंने तुमसे कह दिया, लड्डन की मा, तुम आ मेरे पास न आना। वहीं बड़ी बेगम के पास जाके बैठा करो। (मुझे बहुत गु था, मगर मैंने देखा, बेतुकी औरत है, इसके कौन मुंह लगे ? संयम करके रही)।

बुढ़िया : हमारी बला आती है !

बीवी : मुई की शामत आई है ! यह बला-बला क्या बक रही है ?

बुढ़िया : तो क्या तुम्हारे दबैल है। कुछ किसी के लेने-देने में नहीं। घड़ी निकल आते थे। तुम हमसे, हम तुमसे बात करते थे, न आयेंगे।

बीवी : हरगिज न आना।

बुढ़िया : इस जिद्द पर तो जरूर आयेंगे। देखें तो तुम हमारा क्या क हो ?

बीवी : आओगी तो इतनी जूतियां लगायेंगे कि सर में एक बाल न रहेगा

बुढ़िया : क्या ताकत, क्या मजाल, मुंह बनवाओ ! जूतियां मारेंगी बेचारे

बीवी : लो उठो, यहा से टलो, नहीं तो लेती हूं हाथ में जूती।

बुढ़िया : (एक ठठा लगाकर) 'आज तो हम जूतियां खा के ही जाएंगे। मारो, बाप की बेटी हो !' बाप के नाम पर बीवी को गुस्सा आ गया। चेहरा लाल गया, थर-थर कांपने लगीं।

बीवी : दूर हो यहां से ! कहती हूं।

बुढ़िया : अब तो हम जूतिया खाके ही जाएंगे।

बीवी : (मुझसे) देखा, यह मुझे जिद् दिला रही हैं, बेमारे मुई को न छोडूंगी।

मैं : जाने भी दीजिए ! मुई, बेतुकी है।

बुढ़िया : (मुझसे) तू कुछ न बोलना, मालजादी ! तुझे तो कच्चा ही खा जाऊंगी।

बीवी : (जूती पैर से लेकर)एक, दो, तीन ! अब राजी हुई !

मैं : बेगम, जाने दीजिए (हाथ से जूती छीन ली)।

बीवी : नही, तुम न बोलो, मुई का कचूमर निकाल डालूंगी।

बुढ़िया : और मारो।

बीवी ने दूसरे पैर से जूती निकाल कर चार-पांच और लगाईं। अब तो बुढ़िया ने जमीन पर पांव फैला दिये और जमीन पर दोहत्थड़ मारना शुरू कर दिया। हाय ! हाय ! हाय ! मुझे जूतियां मारीं। अब तो दिल ठंडा हो गया। सौत की जलन मुझ पर उतारी। 'हाय मार डाला, हाय मार डाला' चिल्ला-चिल्ला कर दुहाई देना शुरू कर दिया। रसोई से बुआ अमीरन उठके दौड़ीं, बड़ी बेगम साहब अपने दालान से चली आईं। एक आफत टूट पड़ी। बड़ी बेगम को आता देखकर और भी दुहत्थड़ मारना शुरू किये, इस बुढ़ापे में मुझे जूतियां खिलवाईं !'

बेगम साहब : ले, मुझे क्या मालूम कि तुम पर जूतियां पड़ रही हैं, नही तो आकर बचा लेती ! आखिर बात क्या हुई ?

बुढ़िया : (मेरी तरफ इशारा करके) इस मालजादी ने मार खिलवाई, अरे इसने मार खिलवाई !

मैं ठग-मारी-सी हो गई। बेगम साहब से इस समय मेरा सामना हुआ ! कुछ कहते बन नही पड़ा।

बीवी : फिर इनका नाम लिये जाती है !

बुढ़िया : हम तो नाम लेंगे, तुम क्या करती हो ?

बेगम साहब : आखिर हुआ क्या था ?

बुढ़िया : मुझ निगोड़ी ने इतना पूछा कि यह कौन है ? ले, ... कर दिया ?

बीवी : तुम तो कहती थी कि मैं जानती हूं। फिर पूछने से क्या मतलब था

बुढ़िया : क्या मतलब था ! अच्छा मतलब बता दूंगी तो सही जो बदला न ले लूं ! तुमने मारा तो है !

बेगम : चल शैतान, तू क्या बदला लेगी ? किसी भुलावे में न फूलना।

बुढ़िया : मैं तुमसे कुछ नहीं कहती। तुम जो चाहे कह लो, तुम्हारा हक है।

बेगम : तेरे वाले की ऐसी-तैसी, निकल यहां से !

बुढ़िया : लो, यह भी निकालती हुई आई ! अच्छा, जाते हैं।" यह कह बुढ़िया उठ खडी हुई। लहंगा झाड़-झूड़ बड़बड़ाती हुई चली 'ऊड़ी निकालने वाली', जाते हैं ! देखें तो क्योंकर नहीं आने देतीं।'

बेगम साहब : (बहू से) आखिर तुम इस मुई चुड़ैल के मुंह क्यों लगीं ?

बीवी : अम्मां जान, आपके सर की कसम ! मैंने तो कुछ भी नहीं कहा। यह तो आप ही जैसे कोई खर्री खाट पर से सो कर आई थी ! सैकड़ों बातें तो इस बेचारी को सुना के रख दीं।

बेगम साहब मेरे जिक्र पर कुछ नाक-भौं चढ़ाकर चुपकी हो गईं। मुझे उस बुढ़िया की बात तो ऐसी बुरी नहीं लगी क्योंकि मैं उसे दीवानी समझे हुए थी, मगर हां, बेगम साहब की बेरुखी से बहुत दुख हुआ। वह अभी वहीं खड़ी थीं कि मैं उठकर खिड़की के पास चली आई और अपने मकान में आ बैठी।

बेगम साहब : (मेरे चले जाने के बाद बहू से) ओहो बेटा, तुमने तो उस बुढ़िया निगोड़ी को ख्वाहमखाह पीट डाला। और वह भी फिर मुई एक बाजारू औरत के लिए ! आखिर तुम्हें उसका पक्ष लेना क्या जरूरी था ?

अमीरन : अच्छा, उसको जाने दीजिए। जैसी उसने बदजबानी की थी, सजा पा ली ! यह पूछिये कि वेश्याओं से मेल-जोल कैसा ? और वह भी उससे जिसके मियां से आशनाई हो ! अभी वह लाकर घर पर बिठा देते तो कैसी अपमानित होती ! वाह, खुद जाकर बुला लाईं !

बेगम : (अमीरन से) उसकी मजाल थी, घर में ले आता ! हम नहीं बैठे हैं? बाहर जिसका जी चाहे आए, घर में किसी का क्या काम? ऐ लो, उनका (अकबर अली खां के बाप) बरसों हुसैन बाँदी से सम्बंध रहा, उसने कैसी मिन्नतें की, मैंने हामी नहीं भरी। बुआ अमीरन, मैंने सोचा कि आज तो महमान बनी खडी-तही चली आवेगी, कल मियां घर में बिठा लेंगे तो यह छाती पर मूंग कौन दलवायेगा! अपनी पत अपने हाथ है। यह आजकल की लडकियों को अपने आगम-अंदेशे का ख्याल नहीं !

अमीरन : सच है बेगम साहब, अव्वल तो मूंढे पर बैठने वालों का पर-गृहस्थियों में काम ही क्या है? पुराने लोग कहते थे : एक दर्जा मर्द को घर में बुला ले, मगर बद औरतों को न बुलाये।

बेगम : बुआ, बात यह है कि मर्द अगर चला भी आयेगा तो क्या वह औरतों में घुस के बैठेगा? कल ही की बात है, भगदड के दिनों में बरसों हुसैन खा हमारे घर मे छिपे रहे, फिर बुआ, एक घर का रहना-सहना। मगर मजाल है, उन्होने मेरा आंचल तक देखा हो ! बात सुनी हो ! दिन-दिन-भर सहनची में घुटी बैठी रहती थी, माइयों से इशारों मे बातें करती थी।

अमीरन : एक तो यह कि तुम खानदानी बीबी की साहबजादी, जब ऐसों के पास बैठोगी, तो कहां तक बचाव होगा? कही उसने कत्थे-चूने की कलियों में हाथ डाल दिया, तुम्हारी आख बचा कर कटोरी में पानी पी लिया ! दूसरे, मुई टकाहियां, इनका ऐतबार क्या? सैकड़ों बीमारियो से भरी होती हैं। उनकी तो परछाइयो से बचना चाहिए।

बेगम साहब : एक बात। सभी बातों का बचाव होना चाहिए। परछांवां, नाँधन, टोने-टोटके, बुआ कौन कहे, इनको तो समझ नही, और जो कुछ खिला ही दे ! मिर्जा मुहम्मद अली की बहू को सौत ने जोंक खिला दी। दीन-दुनिया से जाती रही। न आस की, न औलाद की।

अमीरन : जी हां, लो, क्या मैं जानती नही !

बेगम : बुआ, यह सौनापे का रिश्ता ऐसा है कि इसमें अलग-थलग रहे ! अच्छा, यूं तो अलग-थलग रहने पर भी जान नहीं बचती। मुझी को देखो, उस मुई टके की कहारी ने क्या बात उठा रखी थी? दुआ, गण्डे-तावीज़, कैसे-कैसे नक्श मेरे सिरहाने से निकलते थे !

अमीरन : फिर उसको अपने घर में क्यों आने दिया ?

बेगम : ऐ बुआ, नौकर थी। मैं क्या जानती थी कि इसका मियां से सम्बन्ध है। जिस दिन मालूम हो गया, मैंने खड़े-खड़े निकाल दिया।

अमीरन : मगर बेगम, एक बात कहूं, खुदा-लगी ने आपकी सेवा बहुत की।

बेगम : यह खूब कही ! मियां को छीना था ! अब क्या उससे भी गई गुजरी! इस बुढ़िया को क्या समझती हो ? किसी समय इससे भी मियां का सम्बंध था !

अमीरन : (ठहाका लगाकर) नहीं बेगम साहब ?

बेगम : क्या मैं झूठ कहूंगी ? तभी तो वह दोहराती थी कि अपना बदला ले लूंगी।

अमीरन : बहू साहब ! तो फिर आपको नहीं बिगड़ना चाहिये था। ससुर की हरम को इतनी जूतियां···

बेगम : बुआ ! इन लोगों को यह लिहाज कहां ? सच कहूं, मुझे भी यह बात बुरी लगी। इनके मुंह पर कहती हूं। आज तो मुई टकहाई के सामने ससुरे की हरम को जूतियां मारीं, कल सास को मारेंगी।

अमीरन : नहीं, खुदा न करे। मगर हां, बात कहने में आती ही है।

इन दोनों बुढ़ियों ने बहू बेचारी को ऐसे कोंचे दिये कि आखिर बेचारी चीखें मार-मार कर रोने लगी। मेरा यह हाल था कि अंगारों पर लोट रही थी। जी चाहता था कि दोनों बुढ़ियों का मुंह नोच लूं।

रुसवा : हाय, हाय, यह गुस्सा !

रोकियेगा रुसा तबीयत को, कहीं ऐसा न हो कि खिफ़त हो।

उमराव : मिर्ज़ा साहब, गुस्से की बात ही थी ! एक इन्सान को इतना जलील समझना इन्सानियत से परे की बात है।

रुसवा : मेरी समझ में तो ऐसी कोई बात न थी जिस पर आपको इतना गुस्सा आया। वे दोनों बुढ़ियां सच कहती थीं और लड़कन की मां भी बेचारी व्यर्थ पिटी। सच तो यही है, अब आप बुरा मानें या भला।

उमराव : वाह ! मिर्ज़ा साहब, आप अच्छा न्याय करते हैं !

रुसवा : जी हां, मेरी समझ में न्याय यही है। इस बारे में कुछ हद तक आप भी बेकसूर थीं। सारा दोष अकबर अली खां की पत्नी का था।

उमराव : उन बेचारी का क्या दोष था ?

रुसवा : ऐसा दोष था कि अगर मेरी पत्नी ऐसा करती तो तुरन्त डोली बुलवाकर मैके भिजवा देता और छः महीने तक सूरत न देखता ! अच्छा, एक बात बताओ, अकबर अली खां ने जब यह घटना सुनी तो क्या कहा ?

उमराव : लड्डन की मां पर खूब चीखे, खूब चिल्लाए, कह दिया खबरदार, यह डायन हमारे घर में न आने पाये। कई महीने तक उसका आना-जाना बंद रहा, जब बड़े खां साहब आये तो फिर वह आने लगी। यह बात उन्हें सुनाई गई तो वह उल्टे अकबर अली खां की बीवी पर क्रुद्ध हुए।

रुसवा : बुड्ढे की बुद्धि सही थी।

उमराव : सही थी या सठिया गए थे ? जरा लड्डन की मां पांव दबाया करती थी, इसी से उसका पक्ष लेते थे। पर पक्ष लेते क्यों न, लड्डन की मां से पुराना सम्बन्ध था !

रुसवा : आप मान गईं न ! यही सही था। अच्छा, अब एक बात और बता दीजिए, लड्डन की मां जवानी में कोई वेश्या थी या घर-गृहस्थ की ? और बुआ अमीरन कौन थी ?

उमराव : लड्डन की मां मुई धुनैनी थी, जवानी में खराब हो गई थी। अमीरन एक गवार औरत थी। उनका मकान संडीला जिले में था, एक जवान बेटा था—वह भी बड़े खां साहब के पास नौकर था। एक लड़की थी, वह कहीं बाहर ब्याही हुई थी।

रुसवा : बुआ अमीरन से भी क्या बड़े खां साहब का सम्बन्ध था ?

उमराव : न, खुदा को जवाब देना है। अमीरन बड़ी नेक औरत थी। सारा मुहल्ला कहता था कि वह जवानी में विधवा होकर यहां नौकरी को आई थी। उस दिन से किसी ने उसको बदराह नहीं देखा।

रुसवा : पूरी बातें आप से मालूम हो गईं। अब पूछिए आप क्या पूछनी हैं ?

उमराव : तो क्या आप किसी मुकदमे का फैसला करने बैठे हैं ?

रुसवा : बहुत बड़ा मुकदमा है। बात यह है कि औरतें तीन प्रकार की होती हैं, १. सौभाग्यवती, २. चरित्र-भ्रष्ट और ३. बाजारी। चरित्र-भ्रष्ट औरतें भी दो तरह की होती हैं, एक तो वह जो चोरी-छिपे ऐब करती हैं, दूसरी जो खुल्लमखुल्ला बदकारी पर उतारू होती हैं। सौभाग्यवती नारियों के साथ केवल वही औरतें मिल सकती हैं जो बदनाम न हो गई हों। क्या तुम्हें इतनी समझ–

नहीं है कि ये बेचारियां जो सारी उमर चार दीवारी में कैद रहती हैं, कष्ट सहती हैं; अच्छे समय के तो सब साथी हैं, ये बेचारियां बुरे साथ देती हैं। जिस समय इनके पति जवान होते हैं, घर अक्सर बाहर वालियां मजे उड़ाती हैं मगर गरीबी और बुढ़ापे में जब कोई हाल पूछने वाला नहीं होता, उन दिनों में ये ही तरह-तरह की तकलीफें उठाती हैं और बुरों की जान को सब्र करती हैं। फिर क्या इन्हें इसका गर्व न होगा? यही सब इस बात का कारण है कि ये खराब औरतों को बहुत ही बुरी निगाह से देखती हैं, उन्हें बेहद जलील समझती हैं। तोबा, पश्चात्ताप से खुदा पाप क्षमा कर देता है पर ये औरतें कभी क्षमा नहीं करतीं। दूसरी बात यह कि अक्सर देखा गया है कि घर की औरत कैसी सुन्दर, अच्छे स्वभाव और सलीके की, क्यों न हो, मूर्ख मर्द बाजारी औरतों पर, जो चाहे सूरत-सीरत मे घरेलु औरतों से कहीं बदतर हों, आकर्षित होकर उन्हें स्थायी या अस्थायी तौर पर छोड़ देते हैं। इसलिए उनको गुमान क्या बल्कि विश्वास हो जाता है कि ये (बाजारी) किसी-न-किसी तरह का जादू-टोना ऐसा कर देती हैं कि जिससे मर्द की अक्ल में फतूर आ जाता है। यह भी उनकी एक नेकी है कि इस हाल में भी वे अपने मर्दों पर दोष नहीं लगातीं। बल्कि बदकार औरतों का ही दोष ठहराती हैं। इससे ज्यादा उनकी मुहब्बत का क्या सबूत हो सकता है?

उमराव : यह तो सब सही है, मगर मर्द क्यों ऐसे मूर्ख बन जाते हैं?

रुसवा : इसका कारण यह है कि मनुष्य की प्रकृति परिवर्तन चाहती है। एक हालत में जीवन बिताने से, चाहे वह कैसा हीं बढ़िया क्यों न हो, तबीयत उकता जाती है। वह चाहता है कि किसी-न-किसी तरह की अदल-बदल उसके जीवन में उत्पन्न हो। बाजारी औरतों के साथ मेल-जोल करने में एक तरह का नया आनन्द मिलता है, जो कभी उसके ख्याल मे न था। मर्द वहां भी एक ही से परिचित होकर बस नही करता, बल्कि अधिकाधिक की तलाश मे रोज नये कोठों पर पहुंचता है और नये घर देखता फिरता है।

उमराव : मगर सब मर्द ऐसे नही हैं।

रुसवा : हां, इसका कारण यह है कि सभ्यता और सस्कृति ने उस मनुष्य को बुरा बताया है। जो मनुष्य ऐसा करता है उसके प्रियजन, रिश्तेदार, दोस्त, मित्र उसकी निंदा करते हैं। इस भय, से अक्सर हिम्मत नही होती। मगर जब बुरे

दोस्तों की सोहबत में बैठने का सयोग होता है और वे तरह-तरह के आनन्द का वर्णन करके एक अजीब तरह का शौक उसकी तबीयत में पैदा कर देते हैं, तो वह भय उसके दिल से निकल जाता है। आपको इस बात का अच्छा अनुभव होगा कि जो लोग पहले-पहल वेश्या के मकान पर जाते हैं, उनको भेद छिपाने का कितना ख्याल रहता है—कहीं कोई देखता न हो, कोई सुन न ले ! दो आदमियों के सामने बोलने की तो बात ही क्या, एकात मे भी मुह से बात नही निकलती। मगर शनै. शनैः यह हालत बदल जाती है। कुछ ही दिनो मे पूरे बेशर्म हो जाया करते हैं। फिर क्या है ! दिन-दहाड़े सबके सामने वेश्याओं के कोठों पर खट-खट करके चढ जाते है। गाड़ी मे खिड़किया खोलकर साथ बैठकर सैर करना, हाथ में हाथ लेकर मेलों-ठेलों में लिये फिरना—इन सब बातों को गर्वपूर्ण समझने लगते हैं।

उमराव : यह तो ठीक है। मगर शहरों मे इन बातों को विशेष बुरा नहीं समझा जाता।

रुसवा : खासकर दिल्ली और लखनऊ में ! यही इन शहरों की तबाही और बर्बादी का कारण हुआ। गांवों और कस्बों में ऐसे बदमाश लोगों की सगति कम मिलती है, जो नौजवानों को इन बुराइयों की प्रेरणा दें। दूसरे, देहात की वेश्याओं को इतना सम्मान प्राप्त नही है। इसलिये वे रईसो और जमीदारों के ही अधीन हो जाती हैं और बहुत डरती है। क्योंकि उनकी रोजी वल्कि जिन्दगी उनके ही हाथ में होती है। इसलिए उनकी संतान से चोरी-चोरी उनसे मिलती हैं। शहरों मे तो आजादी है। कौन किसका दबाव मानता है? इसी का यह परिणाम है।

उमराव : मगर गाँव वाले जब खराब होते हैं तो हद से ज्यादा बिगड़ जाते हैं, जैसे मियां इरशादअली खां का किस्सा आप सुन चुके हैं !

रुसवा : उसका कारणयह है कि वे इन ऐशो से बिल्कुल बेखबर होते हैं। जब उनको इसका चसका पड़ता है तो हद लांघ जाते हैं। शहर वाले कुछ-न-कुछ जानते होते हैं, इसलिए उन्हें ज्यादा शौक नही होता।

रुसवा : हा, वह आप की नवेली का क्या हुआ? ऐ है भला-सा नाम !

उमराव : आबादी ?

रुसवा : आबादी की सूरत तो अच्छी थी, मैंने उस समय –

दस-बारह साल की थी। जवानी में और निखर गई होगी

उमराव : मिर्ज़ा साहब, आपको खूब याद है !

रुसवा : याद को क्या करना ! वाकई बहुत ढंग की औरत होगी ! हम भी इसी नज़र से देखते थे कि कभी तो जवान होगी !

उमराव : तो यह कहिए, आप भी बी आबादी के उम्मीदवारों में थे।

रुसवा : सुनो उमराव जान ! मेरी एक बात याद रखना। जहां कोई सुन्दर औरत नज़र पड़े, मुझे जरूर याद कर लेना। अगर सम्भव हो तो उम्मीदवारों में नाम लिखवा देना और जो (खुदा न करे) मैं मर जाऊँ तो मेरे नाम पर फ़ातिहा दे देना।

उमराव : और अगर कोई मर्द हसीन नज़र आवे ?

रुसवा : अपना नाम उम्मीदवारों में और मेरा नाम उसकी बहन के उम्मीदवारों में लिखवा देना बशर्ते कि धर्म की मनाही न हो।

उमराव : क्या खूब ! धर्म का क्या दखल है ?

रुसवा : धर्म का दखल कहां नहीं है ? खासकर हमारा धर्म जिसमें कोई छूट नहीं दी गई है।

उमराव : सीधी-सी एक बात क्यों नहीं कह देते : 'शरअन तो जानते नहीं, उरफ़न दुरुस्त है।'

रुसवा : यह और अवसरों पर कहा जाता है। उमराव जान, मेरी ज़िन्दगी का एक नियम है : नेक औरत को अपनी मां-बहन के बराबर समझता हूँ, चाहे वह किसी धर्म-जाति की क्यों न हो और ऐसे कामों में मुझे बहुत दुःख होता है जो उसकी पवित्रता मे बाधा डालने वाले हों। जो लोग उसे बहकाने या बदकार बनाने की चेष्टा करते है, मेरी राय मे गोली मार देने के काबिल हैं। मगर उदार औरतों की उदारता से लाभान्वित होना मेरे निकट कोई पाप नहीं।

उमराव : सुभान अल्लाह !

रुसवा : खैर, अब व्यर्थ की बात रहने दीजिए, आबादी जान का हाल तो कहिए।

उमराव : मिर्ज़ा साहब, अगर आप उसको जवानी में देखते तो यह शेर जरूर आपकी जबान पर होता :

जवान होते ही वह तो और ही कुछ हो गये ऐ दिल,
कहां की पाकबाज़ी हम भी अब नीयत बदलते हैं।

जवान होकर उसने वह शक्ल-सूरत निकाली थी कि सौ-पचास में से एक थी!

रुसवा : अब क्या हुई? जल्द कहिए। किस शहर में चली गई? आखिर आफत क्या हुई जो आप ऐसी निराशा की बात कहती हैं।

उमराव : हमसे गई, जहान से गई!

रुसवा : आखिर है अब कहां?

उमराव : अस्पताल में है और कहा!

रुसवा : यह कहिए जवानी ने गुल खिलाया!

उमराव : जी, माशा अल्लाह खूब फली-फूली! सूरत बिगड़ गई, रंगत उल्टा तवा हो गई। गरज कि सत्तर करम फल आये, अब जान के लाले पड़े हैं।

रुसवा : यह हुआ क्या था?

उमराव : ये, होना क्या था! मुई लोंडे-चेरी, छिछली-छिछोरी! मैंने तो बहुत चाहा कि आदमी बने, मगर न बनी! मैंने क्या नहीं किया? उस्ताद जी को नौकर रखा, शिक्षा शुरू कराई। मगर उसका दीदा ऐसी बातों में कब लगता था! जबसे जवान हुई, मैंने कमरा अलग कर दिया था। शहर के कुछ शरीफ-ज़ादे आकर बैठने लगे। दिन-रात गाली-गलौच, धींगा-मस्ती! जूतम-जाता! एक आफत मची रहती। नाक में दम हो गया था। किसी पर पाबन्दी नहीं, जो आया दाखिल! मैंने मारा-पीटा, समझाया, मगर वह कब सुनती थी? बचपन से उसकी निगाह खराब हो गई थी। उस समय बुआ हुसैनी का भानजा जुम्मन आया करता था। उससे खेला करती थी। मैंने सोचा, बच्चा है, खेलने दो। आखिर कुछ ऐसी बातें आखों से देखी कि जुम्मन का आना-जाना बन्द किया। एक साहब मेरे पास आया करते थे, जरा गला अच्छा था। मैं गवाया करती थी। उनसे छेड़-छाड़ शुरू कर दी! वह खानदान के तो अच्छे थे, पर तबीयत के पाजी थे। न मेरा लिहाज किया, न अपनी हैसियत देखी। एक दिन शाम को क्या देखती हूँ: ड्योढ़ी में वी आबादी से बातें हो रही हैं।

छुट्टन साहब : अरी, मैं तो तेरी सूरत का दीवाना हूँ। हाय, आबादी, क्या

करूँ, उमराव जान से डरता हूँ।

आबादी : हटो, ऐसी बातें मुझसे न किया करो, डर काहे का?

छुट्टन ने आबादी के गले में हाथ डाल दिया, ज़ालिम, क्या प्यारी-प्यारी सूरत है!"

आबादी : फिर तुम्हें क्या?

छुट्टन : (एक चुम्बन लेकर) हमें क्या? जान जाती है, मरते हैं!

आबादी : मुए चार आने तो दिए नहीं जाते, मरते हैं! मियां, मरते सबको देखा, जनाजा किसी का भी नहीं देखा।

छुट्टन : चार आने? जान हाज़िर है।

आबादी : निगोड़ी जान को लेकर मैं क्या करूँगी?

छुट्टन : लो, हमारी जान किसी काम की ही नहीं?

आबादी : लो, अब बातें न बनाओ, चवन्नी जेब में पड़ी हो तो देते ही जाओ।

छुट्टन : वल्लाह! अम्मा की तनख्वाह नहीं बटी, परसों जरूर लेता ही आऊँगा।

आबादी : अच्छा, तो अब जान छोड़ो, जाओ।

छुट्टन : अच्छा, तो एक चुम्बन और!

आबादी को छुट्टन ने गले लगाया। आबादी ने उसकी जेब में हाथ डाला, संयोग से कहीं तीन पैसे जेब में पड़े हुए थे, निकाल लिए।

छुट्टन : तुम्हें हमारे सिर की कसम, ये पैसे न लेना। वा जी ने रंग की पुड़िया और मिस्सी मगाई है।

आबादी : तुम्हारे सिर की कसम, मैं तो नहीं दूंगी।

छुट्टन : आखिर क्या करोगी? परसों चवन्नी ले लेना।

आबादी : वाह! खागीना लेंगे।

छुट्टन : तीन पैसे का खागीना? अच्छा एक पैसा ले लो।

आबादी : तीन पैसे का खागीना कुछ ज्यादा हुआ? निगोड़ा बहुत दिन से जी चाहता है। बीबी लेने नहीं देतीं, कहती हैं, पेट में दर्द हो जायेगा। मैं तो एक ... आने का खा गई। कुछ भी नहीं हुआ।

... ने कहा, "क्यों न हो, मुई काल की मारी, पेटू! हम तो ज़रा-सा

भी खा लें तो बदहज़मी हो जाय।'

रुसवा : क्या उसे अकाल में लिया था ?

उमराव : जी हाँ, एक रुपये में माँ बेच गई थी। तीन दिन की भूखी थी, मैंने रोटी खिलाई और एक रुपया दिया। मिर्ज़ा साहब, मुझे बड़ा तरस आया। मैंने तो कहा था, मेरे पास रह, मगर न रही !

रुसवा : कमबख़्त फिर भी आई थी ?

उमराव : जी, कई बार आई। लड़की को देखकर बहुत खुश हुई। मुझे दुआएँ देती थी। साल में एक-दो बार आ जाया करती थी। मुझसे जो कुछ हो सकता था, करती थी। अब कई बरस से नहीं आई। खुदा जाने मर गई या जीती है।

रुसवा : जात क्या थी ?

उमराव : पासिन।

रुसवा : अच्छा, तो वह क़िस्सा तो रह गया। छुट्टन ने चवन्नी दी या नहीं ?

उमराव : मेरी बला जाने ! छुट्टन के जाने के बाद मैंने मुई को खूब पीटा, पैसे छीन कर चौक में फेंक दिये।

मेरे कमरे के बराबर एक और छोटा-सा कमरा था, कोई दो रुपये महीने किराये का। उसमें एक वेश्या आकर रही थी—हुसना। अभी जवान थी। उसके साथ आबादी की खूब पटी। दिन-भर वहीं बैठी रहा करती थी। सारी आदतें हुसना की उसने अपना ली थीं। जैसी वह वेश्या थी, वैसे ही उसके चाहने वाले ! एक आया, पाव भर पूरिया तेल की लिए चला आता है ! दूसरा आम दो आने सैकड़ा के लिए आया ! किसी से दो गज़ नैनून की फरमाइश है। किसी से मख-मली बूट की। मेले-तमाशे में दो-चार गुर्गे साथ हैं। बड़े-बड़े साफे बाँधे हुए, व फ-दार कुरते या अंगरखे, चुस्त पाजामा, हाथ में लठ हैं, गले में हार पड़े हुए। बी हुसना ठीक उनके सामने साथ चल रही हैं। हिरन वाली सराय में एक बोतल ठर्रे की उड़ी ! वहाँ से चले तो झूमते-झामते, लड़खड़ाते, नाचते-गाते ! बी हुसना उनकी बगल में, अब उनके गले में हाथ ! सरेआम गालम-गलौच, नोचम-खसोट, जूतम-जूता हो रहा है। ऐसी ही हालत में दो-एक तो रास्ते में ही गिर प... चार मेले तक पहुँचे। वहाँ चरस पर टूट पड़े। इनमें से जो कोई ...

उसने अपने बी हसना को गांठ लिया और यारों को धता बताया। अपने
गया था उन्हीं के कमरे पर ठहरा। और यार जब मेले से वापस आए,
नीचे खड़े चीख रहे हैं और गालियां दे रहे हैं, ढेले मार रहे हैं। बी हसना
तो कमरे में नहीं और हैं भी तो बोले क्यों? इतने में कोई सिपाही चला
उसने बेजा भीड़ को तितर-बितर किया। सब अपने-अपने घर चले गये!

बस यही ढंग आबादी भी चाहती थी। भला मैं ऐसा कब बर्दाश्त करती
आखिर हुसैन अली (मेरे पास एक नवाब साहब आते थे, उनका नौकर था)
साथ निकल गई। उसके घर बैठ गई। वहां उसकी पत्नी ने आफत मचाई
घर से निकल गई। मियां हुसैन अली इन पर लट्टू थे, इसलिए पत्नी के
जाने की कोई परवाह न की। मगर मुश्किल यह हुई कि अब खाना कौन
बी आबादी को चूल्हा फूंकना पड़ा। इसकी उसे आदत कहां थी? किसी तरह
दिन गुजरे। यहीं एक बच्चा पैदा किया। खुदा जाने हुसैन अली का था या
और का। दो महीने का होकर वह जाता रहा। इधर हुसैन अली की ओर
रोटी-कपड़े का दावा किया। डेढ़ रुपया महीना की डिगरी हुई। तीन रुपये
देते थे। डेढ़ रुपये में क्या होता? ऊपर की कमाई करने लगे। पर इस पर भी
न हुआ। बी आबादी कुछ चटोरी भी थी। आखिर मियां हुसैन अली के
निकल कर मुहल्ले के एक लड़के के साथ भागी। उसकी मां पठानी कुटनी,
प्रसिद्ध थी। जहां दो-चार ऐसी ही चालू और रहती थीं, वहीं इनका भी ठिकाना
हो गया। बी पठानी की रोजी कुछ बढ़ गई। मुन्ने नाममात्र को रह गए।
मुन्ने के एक रिश्ते के बड़े भाई मियां सआदत पठानी को धोखा देकर लड़ा ले
यह अपनी मां के पास ले गए।

[ग]ती। उन दिनों न मालूम किसकी बरकत से खूब फली-फूली। अब मियां अमीर किस काम की थी? उसने उठाकर अस्पताल में डलवा दिया। आजकल वहीं [त]शरीफ रखती हैं। अगर आप कहें तो बुलवा दी जाएं।

रुसवा : मुझे तो माफ ही कीजिए।

२१

हाथ आई मुराद मुंह मांगी, दिल ने पाई मुराद मुंह मांगी ॥

रजब की नौचंदी थी। बैठे-बैठे मेरे दिल मे आई चलो दरगाह चलें, जयारत ही करें। शाम होते ही सवार होकर पहुंचे। बड़ी भीड़ थी। पहले तो मैं मर्दानी दरगाह के आंगन मे इधर-उधर टहलती रही। फिर जाकर शमे जलाईं, भेंट चढाई। एक साहब मरसिया पढ रहे थे, उन्हें सुना। फिर एक मौलवी साहब आये, उन्होने हदीस पढी। उसके बाद मातम हुआ। अब लोग अपने-अपने घरों को चलने लगे। मैंने भी विदाई पढकर वापसी का विचार किया। दरवाजे तक पहुंच कर जी मे आया कि जनानी दरगाह मे भी होती चलू। नौहा पढने मे प्रसिद्धि और नवाब मलका किशवर की सरकार से सम्बंध के कारण अक्सर औरतें मुझे जानती थीं। मैंने सोचा कि दो-चार मिल ही जाएगी। इसी बहाने भेंट हो जाएगी। सवार होकर चौपहले परदा डालके जनानी दरगाह के दरवाजे पर पहुंची। महलदार ने आकर सवारी उतरवाई। अन्दर गई। मेरा ख्याल गलत न था, काफी औरतों से सामना हुआ। शिकवे-शिकायतें, गदर के हाल, इधर-उधर की बातें होती रहीं। बडी देर हो गई। मैं वापस आने ही को थी कि इतने में क्या देखती हूं, दायीं तरफ की अंगनिया से कानपुर वाली बेगम साहब निकली चली आ रही हैं। बड़े ठाठ थे! भारी जोड़ा पहने हुए, चार-पांच महरियां साथ हैं—एक हुक्की संभाले हुए है, एक के हाथ में पखा है, एक लुटिया खासदान लिए हुए है, एक के पास सेनी में भेंट की सामग्री है। मुझे दूर से देखते ही पुकारा। कंधे पर हाथ रख दिये।

बेगम : या अल्लाह! उमराव, तुम तो बड़ी बेमुरौवत हो। कानपुर से जो गायब हुई तो आज मिली हो, वह भी संयोग से।

मैं : क्या कहूं, जिस दिन आपके बाग में रात को रही थी, उसी दिन लखनऊ से लोग आकर मुझे पकड़ के लखनऊ ले गए। फिर भगदड़ मच गई। न जाने कहां-कहां मारी फिरी। न मुझे आपका पता था, न आपको मेरा हाल मा था।

बेगम : खैर, अब तो हम-तुम दोनों लखनऊ में हैं।

मैं : लखनऊ क्या, इस समय तो एक ही जगह पर हैं।

बेगम : इसकी गारंटी नहीं। तुम्हें मेरे मकान पर आना होगा।

मैं : सर आंखों से। मगर आप रहती कहां हैं ?

बेगम : चोपटिया पर नवाब साहब को कौन नहीं जानता ?

मैं पूछने ही को थी कि कौन नवाब साहब ? इतने में एक महरी बोल उठी नवाब मुहम्मद तकी खां का मकान कौन नहीं जानता ?

मैं : आने को तो आऊं, मगर नवाब साहब के प्रतिकूल न हो।

बेगम : नहीं, वह इस तबीयत के आदमी नहीं हैं। फिर तुम्हारे बारे में मैं उस रात का हाल रत्ती-रत्ती उनसे कहा था। उन्होंने तो खुद कानपुर में कई बा ढुंढ़वाया। अक्सर पूछते रहते हैं।

मैं : अच्छा, तो जरूर आऊंगी।

बेगम : कब आओगी ? वायदा करो।

मैं : अगले वीरवार को हाजिर हूंगी।

बेगम : ऊई ! यह वीरवार की पाबंद तुम कब से हो गई ? अभी तो पूरे आ दिन हैं ! जल्दी क्यों नहीं आती ?

मैं : अच्छा तो अगले सोमवार को आऊंगी।

बेगम : इतवार को आओ, नवाब भी घर में होंगे। सोमवार को शायद कि अंग्रेज से मिलने जायें।

मैं : ठीक है, इतवार को सही।

बेगम : किस समय आओगी ?

मैं : जिस वक्त कहिए ! मुझे घर पर कोई काम नहीं, हर समय बराबर है।

बेगम : तुम कहां रहती हो ?

मैं : चौक में सय्यद हसन खां के फाटक के पास।

बेगम : अच्छा तो मैं महरी को भेज दूंगी, उसी के साथ चली आना।

मैं : बहुत अच्छा।

बेगम : अच्छा तो खुदा हाफ़िज़।

मैं : अच्छा हां, यह तो बताइए, साहबज़ादा कैसा है ?

बेगम : बब्बन ? माशा अल्लाह अच्छा है, लो तुमने अब याद किया !

मैं : क्या कहूं, बातो में ऐसी भूली और भूली क्या, जब चाहती थी कि पूछूं, एक-न-एक बात निकल आती थी।

बेगम : अब तो कुशल से जरा होश संभाला है। अच्छा,उस दिन उसे भीदेख लेना।

मैं : रात की नींद हराम। लो, अब कुछ न कहना, खुदा हाफिज़।

बेगम : खुदा हाफिज़, देखो जरूर आना !

मैं : ऐसी बात है ?

इतने मे महरी ने देखा कि बातों का सिलसिला फिर चला, कहने लगी, बेगम साहब, चलिए। देर से कहार शोर मचा रहे हैं, सवारी लगी है।

२२

हरचंद बहुत ग़ौर किया हमने शबो-रोज,
दुनिया का तिलस्मात समझ में नहीं आता।

मैं खानम से अलग हो गई थी, मगर जब तक वह जीती रहीं, उन्हें अपना अभिभावक समझती रही, और सच यह है कि उन्हें भी मुझसे प्यार था। उनके पास इतना धन था कि तबीयत उदार हो गई थी। उम्र जो ज्यादा हो गई थी तो दुनिया से उनका मन फिर गया था। अब उन्हें किसी की कमाई से कोई मतलब न था। मगर मुहब्बत उसी तरह करती थी। वह अपने जीते-जी किसी नौची को अपने से जुदा न करती थी। मुझसे तो उनको विशेष प्यार था। बिस्मिल्ला ने उन्हें बहुत दुख दिये इसलिए उन्हें उससे नफरत-सी हो गई थी। लेकिन फिर अपनी संतान थी! खुरशीदजान भी गदर के बाद आ गई थी। वह खानम के पास रहती थी। अमीरजान ने अलग कमरा ले लिया था, मगर वह भी आती-जाती रहती थी।

जो कमरा खानम ने मुझे दिया था वह जिन्दगी भर मुझसे खाली नहीं कराया। मेरा सामान उसमें बन्द रहता था। मेरा ताला लगा था। जब जी चाहता वहीं आकर रहती। सालभर चाहे कहीं रहूँ, मगर मुहर्रम में ताजियादारी वहीं करती थी। मेरे नाम का ताजिया खानम मरते दम तक रखा करती थी।

वीरवार को बेगम से मुलाकात हुई थी। जुमे को आदमी आया कि खानम साहब की तबीयत कुछ खराब है, तुम्हें याद करती हैं। मैं तुरन्त सवार होकर गई। उन्हें देखकर घर वापस आने का इरादा किया कि जी में आया, एक भारी जोड़ा निकाल लेती चलूं। कमरा खोला। देखा, कमरे में चारों तरफ जाले लगे हैं। पलग पर मनों गर्द पड़ी है। फ़र्श-फरूस उल्टा-पुल्टा है, इधर-उधर कूड़ा-कर्कट पड़ा है। यह हाल देखकर मुझे बीता समय याद आया। अल्लाह! एक दिन वह था कि यह कमरा हर समय कैसा सजा-सजाया रहता था! दिन में चार बार झाड़ू होती थी। बिछौने झाड़े जाते थे, गर्द का नाम न था! तिनका तक कहीं दिखाई न देता था या अब यह हाल है कि पल-भर बैठने को जी नहीं चाहता। वही पलंग जिस पर मैं सोती थी, अब उसपर पांव रखते हुए झेंप होती थी। आदमी साथ था। मैंने उससे कहा, "जरा जाले तो उतार दे।" वह एक सोंटा कहीं से ढूंढ कर उठा लाया, जाले हटाने लगा। मैंने अपने हाथ से दरी उल्टी। आदमी ने और मैंने मिलकर दरी बिछाई, चांदनी को ठीक किया। जब फर्श ठीक हो गया तो मैंने पलंग के बिछौने उठा के झड़वा दिये। कोठरी में से सिगारदान, पानदान, उगालदान उठा लाई। सब चीजें अपने-अपने करीने से लगा दीं जिस तरह किसी समय लगी रहती थी। खुद पलग पर तकिया लगाकर बैठी। आदमी के पास पानदान था, पान लेकर खाया। शीशा सामने लगा था, मुंह देखने लगी। पुराना समय याद आ गया। जवानी की तस्वीर आंखों में फिर गई। उस समय के कदरदानों का चित्र बंध गया। गोहर मिर्ज़ा की राशिद अली की धृष्टता, फैज़ू की मुहब्बत, मुल्तान साहब की सूरत [illegible] साहब इस

हुई। अब मुझे हर चित्र पर ज्यादा सोचने-विचारने का अवसर मिला। जो बातें जिससे सम्बन्धित थी, उनपर विस्तृत दृष्टिपात होने लगा। पहले जब मस्तिष्क घूम रहा था तो केवल कुछ ही चित्र नजर आते थे, अब हर चित्र से बहुत-से चित्र निकले और ख्यालों का चित्रपट विस्तृत होने लगा। तमाम जिन्दगी में जो कुछ देखा, सब निगाह के सामने था। इसी बीच एक बार सुल्तान साहब का फिर ख्याल आया तो उसके साथ ही पहले मुजरे का तमाम जलसा जिसमें सुल्तान-साहब को देखा और दूसरे दिन उनके नौकर का आना, फिर स्वयं उनका आना, मजे-मजे की बातें, शेर-ओ-सुखुन का चर्चा, खां साहब का विघ्न डालना, बद-जबानी करना, सुल्तान का तमचा चलाना, खां साहब का गिर पड़ना, शमशेर खां की जाननिसारी, कोतवाल का आना, खां साहब को घर भिजवाना, सुल्तान साहब का न आना, महफिल में उनको देखना, लड़के के हाथ सदेश भेजना, फिर से सम्बन्ध जुड़ना, नवाबगंज के जलसे—ये सब घटनायें ऐसी मालूम होती थीं, जैसे कल घटी हों। स्मृतियों के ये दौरे बराबर चल रहे थे। मगर जब पहले मुजरे के बाद सुल्तान साहब के आदमी का संदेश लेकर आना याद आता था तो तबी-यत कुछ रुक-सी जाती थी। ऐसा लगता था कि जैसे यहां कुछ छूट जाता है। इतने में आदमी ने जोर से एक चीख मारी और कहा, "बीवी, देखिए वह खान-खजूरा आपके दुपट्टे पर चढ़ा जाता है!" मैं 'ऊई' कहके उठी। जल्दी से दुपट्टा उतार कर फेंक दिया। अलग जा खड़ी हुई। आदमी ने दुपट्टा उठा के झाड़ा। खानखजूरा पट से गिरा और रेंगता हुआ पलंग के सिरहाने वाले पाये के नीचे घुस गया। आदमी ने पलग का पाया उठाया। अब जो देखते हैं तो पाये के नीचे पांच अशर्फियां बराबर बिछी हुई हैं।

आदमी : (बहुत ही हैरान होकर) हैं! ऐ लीजिए, यह क्या है?

मैं : (दिल में) अहा! ये वे अशर्फियां हैं! (आदमी से) अशर्फियां हैं।

आदमी : वाह! अशर्फियां यहां कहां से आईं?

मैं : (हंसकर) 'वह खानखजूरा अशर्फियां बन गया! अच्छा उठा लो।' आदमी पहले तो जरा झिझका, फिर पाचों अशर्फियां उठाकर मेरे हवाले कर दीं।

रुसवा : तो क्या खानम का मकान गदर में नहीं लुटा?

उमराव : लुटा क्यों नहीं? मगर मान लीजिए कि मेरे पलंग का पाया

किसी ने उठाकर नहीं देखा।

रुसवा : सम्भव है।

२३

किसी तरह से हो तस्कीने-शौक[1], कैसा रश्क,[2]

मिलेंगे आज हम उनसे रकीब[3] से मिलके।

इतवार के दिन आठ बजे सुबह को बेगम साहब की महरी पालकी और कहार लेकर सिर पर आ चढ़ी। मैं अभी सोकर उठी ही थी। अच्छी तरह हुक्का भी पीने न पाई थी कि उसने जल्दी मचाना शुरू कर दिया। मैं समझी थी कि खाना-वाना खाकर जाना होगा। महरी ने कहा कि बेगम साहब ने अपने सिर की कसम दी है कि खाना यहीं आकर खाना। मैंने पूछा, "नवाब साहब घर पर हैं?" उसने कहा, "नहीं, सुबह से उठकर गाव को सिधारे हैं।" मैंने पूछा, "कब तक आयेंगे?" महरी ने कहा, "अब आयें तो शाम को आयें।" मुझे बेगम से बहुत-सी बातें करनी थीं। इसलिए तुरन्त उठ बैठी। हाथ-मुंह धोकर कंघी-चोटी कर, कपड़े पहन एक माई को साथ लेकर रवाना हुई।

जाकर जो देखा, बेगम साहब प्रतीक्षा में बैठी हैं! मेरे जाने के साथ ही दस्तरखान बिछा। मैंने और बेगम साहबा ने साथ बैठकर खाना खाया। बहुत तकल्लुफ का खाना था—पराठे, कोरमा, कई तरह का सालन, मलाई, महीन चावल का खुश्का, नौरतन चटनी, सेब का मुरब्बा, सोहन हलवा। खाना खाकर बेगम ने चुपके-से मेरे कान में कहा, "क्यों, वह करीम के घर की अरहर की दाल और जवार की रोटियां भी याद हैं?"

मैं : चुप भी रहो, कोई सुन लेगा!

बेगम : सुन लेगा तो क्या होगा? क्या कोई जानता नहीं, नवाब की मां (खुदा जन्नत दे) ने मुझे नवाब के लिए मोल लिया था!

मैं : खुदा के वास्ते चुप रहो। कहीं एकांत में चलो तो बातें होंगी।

---

1. प्यार की तुष्टि 2. ईर्ष्या 3. प्रतिद्वन्द्वी

बनी हुई हूं और ऐश करती हूं। नवाब मुझे उसी तरह चाहते हैं जैसे कोई ब्या
ब्याहता को चाहता है। मेरे देखते तो किसी तरफ निगाह उठाकर भी नहीं देख
यूं बाहर अपने दोस्तों में जो चाहते हो करते हों, आखिर पुरुष हैं! कुछ मैं उनके
पीछे तो फिरती नहीं।

खुदा ने मेरी सब कामनाएं पूरी की। संतान की इच्छा थी, खुदा की कृ
से संतान भी है। अब यदि इच्छा है तो यही कि खुदा बब्बन को परवान चढ़ाये
बहू व्याहकर लाऊं और एक पोता खिलाऊं। फिर चाहे मर जाऊं। नवाब के हाथ
मिट्टी पवित्र हो जाय। अब तुम अपना हाल कहो।

जब रामदई ये बातें कर रही थी, मुझे अपने भाग्य पर रोना आ रहा था
दिल ही दिल में कहती थी—तकदीर हो तो ऐसी हो। एक मेरी फूटी तकदीर
बिकी भी तो कहां ? वेश्या के घर !!

इसके बाद मैंने संक्षेप में अपना हाल कह सुनाया। जिसे आप अच्छी तर
जान चुके हैं। मैं दिनभर वहीं रही। जब एकांत की बातें हो चुकी तो नौक
को आवाज दी। तबले की जोड़िया, सितार, तानपूरा—यह सब सामान मंगाया
गाने-बजाने का समारोह हुआ। जब दोनों अकेले थे तो वह रामदई थी और
अमीरन। सब लोगों के सामने फिर वह बेगम साहब हो गईं और मैं उमरा
जान। तीन-चार घंटे तक गाना-बजाना होता रहा। बेगम भी कुछ सितार ब
लेती थीं। जब मैं गा चुकती थी तो वह सितार की कोई गत छेड़ देती थी। ए
मुगलानी का गला बहुत अच्छा था, उससे गवाया। शाम तक बड़े मजे की संग
रही।

२४

ढब से हो गए। मैं भी बेगम से अलग हटकर बुत बनकर बैठ गई। जिस आंगन मे हम लोग बैठे थे, वहां से दरवाजा सामने था, पर्दा पड़ा हुआ था। नवाब की प्रतीक्षा मे उस पर्दे पर निगाहे लगी हुई थी। मैं भी उसी तरफ देख रही थी। इतने मे किसी खिदमतगार ने चिल्लाकर कहा, "नवाब साहब आते हैं।" कुछ क्षण बाद महरी ने पर्दा उठाकर कहा, 'बिस्मिल्ला अर्रहमान अर्रहीम।' नवाब अन्दर दाखिल हुए।

मैं: (सूरत देखते ही दिल मे) वही तो हैं (सुल्तान साहब)! हाय, हाय, किस अवसर पर सामना हुआ है! नवाब की निगाह मुझ पर पड़ी। पहले तो कुछ झिझके। फिर गौर से मेरी तरफ देखते हुए आगे बढे। मैं भी उन्ही की तरफ देख रही थी:

मैं देखता हूं उनकी तरफ तो हैरत है,
मेरी निगाह का वह इजतराब[1] देखते हैं।

अब नवाब दालान के करीब पहुच गए और मेरी ही तरफ देखते जाते थे कि बेगम ने कहा, " ऊई नवाब, देखते क्या हो वही हैं उमराव जान, जो कानपुर (अनजान बनके)—हां, मैंने तुमसे इन्ही का जिक्र किया था।" नवाब अब फर्श के पास आ गए थे। सब सम्मान मे खड़े हो गए। फिर नवाब गद्दी पर बेगम के बगल मे जरा सरक कर बैठ गए।

अब शाम हो चुकी थी। महरी ने दो कंवल सफेद जलाकर सामने रखे। बेगम पान बनाने लगी। इस बीच नवाब ने आंख बचाकर मेरी तरफ देखा। मैंने भी कनखियों से उन्हें देखा। न वह कुछ कह सकते थे, न मैं बोल सकती थी! मुंह से बोलने का मौका ही न था। मगर इस समय आखें ही जबान का काम दे रही थीं। शिकवे-शिकायत, उदाहरण-दृष्टांत सब संकेतो मे होते रहे।

नवाब: (कुछ अजनबीपन से) उमराव जान साहब, वाकई हम तो आपके बहुत ही एहसानमन्द हैं। वाकई कानपुर मे उस रात को तुम्हारे कारण हमारा घर लुटने से बच गया।

मैं: यह आप क्यों मुझे कांटों मे घसीटते हैं। एक संयोग की बात थी।

नवाब: खैर, जो कुछ हो, वजह तुम्हारी थी। खैर, सामान तो वहां कुछ न

---

१. बेचैनी।

था मगर एक बड़ी कुशल हो गई। सभी जरूरी कागज कोठी में थे।

मैं : यह उन दिनों हुजूर जंगल मे औरतों को छोड़ के कहां गए थे?

नवाब : क्या कहूं, ऐसी ही विवशता थी। लखनऊ की जायदाद बादशाह ने जब्त कर ली थी। लाट साहब के पास कलकत्ता जाना जरूरी था। ऐसी जल्दी में गया था कि न कुछ सामान किया, न लिया न दिया। केवल शमशेर खां और एक और आदमी को साथ लेकर चला गया।

मैं : वह कोठी ऐसे जंगलों मे है कि कोई घटना न हो तो ताज्जुब है।

नवाब : सिवा उस घटना के और कोई वारदात कभी नही हुई। इसका भी कारण यह था कि गदर होने वाला था। बदमाशों ने सिर उठा रखा था, देश में अंधेर मचा था!

इसके बाद इधर-उधर की और बातें होती रहीं। फिर दस्तरखान बिछा। सबने साथ मिलकर खाना खाया। जब हुक्का-पान से निवटे तो नवाब ने गाने की फरमाइश कर दी। मैंने यह ग़जल शुरू की :

मरते-मरते न कजा याद आई। उसी काफिर की अदा याद आई।
तुमको उल्फत न अदा याद आई। याद आई तो जफा याद आई।
हिज्र की रात गुजर ही जाती। क्यों तेरी जुल्फे रसा याद आई।
तुम जुदाई में बहुत याद आए। मौत तुमसे भी सवा याद आई।
लज्जते-मासीयते-इश्क न पूछ। खिल्द में भी यह बला याद आई।
चारागर जहर मंगा दे थोड़ा। ते मुझे अपनी दवा याद आई।

और शेर याद नहीं, मकता यह है—

क्या ग़जल कोई कहे ऐ अदा। आज क्यों बादे सबा याद आई।

२५

बरसात के दिन हैं। पानी छमाछम बरस रहा है। आमों की फसल है। मेरे कमरे मे भीड़ जमा है। बिस्मिल्ला जान, अमीर जान, बेगा जान, खुर्शीद जान आदि वेश्याएं, मरदों में नवाब बब्बन साहब, छब्बन साहब, गौहर मिर्जा, आशिक ,, तफजल हुसैन, अमजद अली, अकबर अली खां—ये सब मौजूद हैं। गाना

हो रहा है। इतने में बिस्मिल्ला बोल उठीं : भई होगा। गाना तो रोज हुआ करता है। इस समय तो कढ़ाई चढाओ, कुछ पकवान पकाओ। देखो, कैसा मेंह बरस रहा है!

मैं : उंह! बाजार से जो जी चाहे मंगा लो।

खुर्शीद : बाजार से मंगवा लो। यह खूब कही! अपने हाथ से पकाने मे मजा ही और है।

अमीर : बहन, तुम्हें हंडिया फूंकने का मजा है। हमने न तो कभी पकाया है, न पकाने का महत्त्व जानते हैं।

बेगा : तो फिर वही बाजार की ठहरी!

मैं : ऐ है वाजी, क्या भूखी हो?

बेगा : मैं तो भूखी नहीं हू, बिस्मिल्ला से पूछो। उन्होंने सलाह दी थी।

बिस्मिल्ला : भई, कुछ-न-कुछ तो आज होना चाहिए।

मैं : बताऊं! चलो बख्शी के तलाब पर।

बिस्मिल्ला : हां भई, क्या बात कही है!

खुर्शीद : खूब सैर होगी।

बेगा : हम भी चलेंगे।

मैं : अच्छा, तो सामान करो।

बात की बात में तीन गाड़ियां किराये पर आ गईं। खाने-पकाने का सामान गाड़ियों पर लदवाया गया। दो छोलदारियां नवाब बख्त साहब के घर से आ गईं। सब गाड़ियों पर सवार होकर रवाना हुए।

गोमती के पार पहुचकर गाना शुरू हुआ। उस दिन बेगा जान का गाना था :

झूला किन डारो रे अमरैयां!

क्या-क्या तानें निकाली थीं कि दिल पिसा जाता था!

शहर से निकलकर जंगल का दृश्य देखने योग्य ही था। जिधर निगाह जाती, हरियाली ही हरियाली नजर आती थी। बादल चारों तरफ घिरे हुए थे। मेंह बरस रहा था। वृक्षों के पत्तों से पानी टपक रहा था, नदी-नाले भरे हुए थे, मोर नाच रहे थे, कोयल कूक रही थी। बात की बात में तालाबपर पहुंच गए। बारहदरी में फर्श बिछाया गया। चूल्हे बन गए, कढ़ाहियां चढ़ गईं। पूरियां तली जाने

लगी। नवाब छुट्टन साहब बरसाती पहनकर शिकार को निकल गए। गौहर मिर्ज़ा आमों की खांचियां चुका लाये। इतनी देर में नौकरों ने सड़क के किनारे बाग में छोलदारियां गाड़ दीं। गांव से चारपाइयां आ गईं। यहां और ही मज़ा था। आम टपक रहे हैं, एक-एक आम पर चार-चार आदमी टूटे पड़ते हैं। पानी में छपके लगा रहे हैं! कोई इधर दौड़ा जा रहा है, कोई उधर। आपस में छीना-झपटी हो रही है। अब इसमें कोई गिर पड़ा तो कीचड़ में लथपथ! थोड़ी देर पानी में जाकर खड़े हो गए। फिर वैसे ही साफ! जिनका स्वभाव कुछ संकोची था, जैसे बाजी बेगा जान, वह छोलदारी में बैठी रही। बिस्मिल्ला ने पीछे से जाकर उनके मुंह पर आम का रस मल दिया। फिर तो उनकी चीखें थीं और सबके ठहाके! देखने को एक तमाशा था!

न मालूम कहां से बहती-तैरती तीन-तीन नटनियां आ निकलीं। उनको गवाना शुरू किया। उनके साथ ढोलकी वाला गज़ब की ढोलकी बजाता था। भला उनका नाच-गाना हम लोगों को क्या अच्छा लगता! मगर उस रुत में और वैसे वातावरण और जगह में कुछ अनुचित भी नहीं था। दो घड़ी दिन रहते सौभाग्य से आसमान खुल गया, धूप निकल आई। हम लोग एहतियात से एक-एक जोड़ा घर से लेते आए थे। सबने कपड़े बदले, जंगल की सैर को निकले।

मैं भी अकेली एक तरफ को रवाना हुई। सामने घने पेड़ थे। सूरज इन्हीं घने वृक्षों की आड़ में डूब रहा था। हरियाली पर सुनहरी किरणों के पड़ने से एक अजीब दृश्य था। जगह-जगह जंगली फूल खिले थे। चिड़ियां इधर-उधर उड़ रही थीं। सामने झील के पानी पर सूर्य की किरणों से ऐसा दृश्य उत्पन्न हो रहा था जैसे पिघला हुआ सोना झलक-थलक रहा हो। वृक्षों के पत्तों की आड़ में सूरज की किरणें और ही दृश्य दिखा रही थीं। आकाश में लाली छाई थी। दृश्य ऐसा न था कि एक खब्ती मिजाज की औरत जैसी कि मैं हूं, जल्दी से छोलदारी में चली जाती। यह तमाशा देखती हुई खुदा जाने कितनी दूर निकल गई। आगे जाकर एक कच्ची सड़क मिली। इस पर कुछ ग्रामीण रास्ता चल रहे थे, किसी के कंधे पर हल था, कोई बैलों को हांकता हुआ चला आता था। एक छोटी-सी लड़की गाय-भैंस लिए जाती थी। एक लड़का बहुत-सी भेड़ों और बकरियों के पीछे था। ये सब आंखों के सामने आए, फिर ओझल हो गये। मैं फिर अकेली रह गई! न मालूम किस धुन में थी। मगर अब मैं सड़क पर चलने लगी। अपने ख्याल में

मानो तालाब की तरफ चल रही थी। मेरे कदम जल्द-जल्द उठ रहे थे। आगे चल कर एक फकीर का डेरा था। यहां कुछ लोग बैठे हुक्का पी रहे थे। मैंने तालाब का रास्ता पूछा। मालूम हुआ कि मैं लखनऊ की सड़क पर जा रही हूं, तालाब दायें छूट गया है। यहां सड़क छोड़नी पड़ी। एक बीहड़ मे से होकर रास्ता था। थोड़ी दूर तक नाला आया। नाले के उस पार थोड़ी दूर पर दो-तीन वृक्ष थे। मैंने देखा कि इन वृक्षों की जड़ से जरा हटकर कोई आदमी मैली-सी धोती बांधे, मिर्जई पहने, एक मैला-सा चादरा कमर से लिपटा हुआ, खुरपी हाथ में लिये कुछ खोद रहा है। उस आदमी से मेरी चार आंखें हुईं। पहले तो कुछ संदेह-सा हुआ, फिर एक बार गौर से देखा, अब यकीन हो गया कि वही है। चाहती थी कि नजर फेर लूं, मगर निगाह कम्बख्त उसी तरफ लड़ी रही। अब तो बिल्कुल यकीन हो गया। करीब था कि गश खाकर गिर पड़ूं और जरूर ही गिर पड़ती। इतने मे दूर से अकबर अली खां के नौकर सलारबख्श की आवाज कान मे आई। मुझे ढूंढने निकला था। मुझे आते देखकर दिलावर खां ने खुरपी हाथ से रख दी थी। जिस तरह मैं उसे देख रही थी, वह भी मुझे देख रहा था। मगर उसने मुझे न पहचाना हो, मैंने उसको अच्छी तरह पहचान लिया था।

सलार बख्श की आवाज सुनकर वह नाले की तरफ भागा। इतने में सलार-बख्श मेरे पास पहुंच गया। मैं मारे डर के थर-थर कांप रही थी। आवाज मुंह से नहीं निकलती थी। घिग्घी बंधी हुई थी। सलार बख्श ने मेरा यह हाल देखकर कहा, "हाय डर गईं !" मैंने वृक्ष की ओर संकेत किया। सलार बख्श उस ओर देखने लगा।

सलारबख्श : वहां क्या हुआ है ? एक खुरपी पड़ी हुई है। वाह ! उससे डर गईं। आप समझीं कोई कबर खोद रहा है। और वह गया कहां, जो खोद रहा था ?

मुंह से तो बोला न गया। हाथ से नाले की तरफ संकेत किया।

सलार बख्श : "चिलम पीने गया होगा—डेरे पर। अच्छा तो चलिये, नवाब छम्मन साहब बहुत-सी मुर्गाबियां शिकार करके लाए हैं। आपका कहीं पता न मिला, मियां उधर ढूंढने गए हैं। मैं इधर आया। अच्छा हुआ आप मिल गईं, नहीं तो आपको रास्ता न मिलता।" मैंने हां, ना किसी बात का जवाब नहीं दिया। आखिर सलार बख्श भी चुप हो गया। थोड़ी देर में खेतों में से होकर

तालाब पर पहुंच गई। रात को यही रहने की ठहरी। जब खाने से निपटे तो मैं अकबर अली खां से सारी बात बताई।

अकबर अली खां : तुमने अच्छी तरह देखा ? यह वही दिलावर खां था फैजाबाद का रहने वाला ? उसका तो हुलिया निकला हुआ है। अफसोस, तुमने पहले न कहा। बदमाश को चलकर पकड़ते। बड़ा नाम होता। सरकार से इनाम मिलता। एक हजार का इश्तहार है। और यह खोदता क्या था ?

मैं : क्या मालूम ! मुआ अपनी कब्र खोदता होगा ?

अकबर अली खां : उसके नाम से तुम्हारे मुंह पर हवाइयां छूटने लगती हैं। अब वह तुम्हारा क्या कर सकता है ?

मैं : (दिल को जरा थाम कर) जरूर उसने गदर के समय वहां कुछ गाड़ दिया होगा। उसे खोदने आया है।

अकबर अली खां : चलो देखें।

मैं : मैं तो न जाऊंगी।

अकबर अली खां : मैं तो जाता हूं। सला रबख्श को लिये जाता हूं।

मैं : कहां जाओगे ? अब वहां धरा होगा वह ? खोद कर ले भी गया होगा।

अकबर अली खां : मैं तो जरूर जाऊंगा।

यह जरा जोर से कहा। पास नवाब छब्बन साहब की छोलदारी थी। वह और बिस्मिल्ला दोनों भागे आए।

नवाब : खां साहब, कहां जाइएगा ?

अकबर अली खां : नवाब साहब, अभी आपने आराम नहीं किया ?

नवाब : जी नहीं।

अकबर अली खां : मैं हाजिर हूं।

नवाब : आइए।

अकबर अली खां और मैं दोनों नवाब की छोलदारी में गए। सारा किस्सा सुनाया।

नवाब : (मुझ से) और तुम उस बदमाश को क्या जानो ?

मैं : (अपनी कहानी तो उनसे क्या कहती !) मैं जानती हूं और अच्छी तरह जानती हूं। मैं भी फैजाबाद की रहने वाली हूं।

नवाब : अख्खाह ! आप भी फैजाबाद की रहने वाली हैं !

अकबर अली खां : मगर उस मरदूद का बन्दोबस्त करना चाहिए। अभी यहीं कहीं होगा। ताज्जुब नहीं कि पकड़ा जाय। यह कह कर सलार बख्श को आवाज दी। कलमदान मंगवाया। थाना पास था। थानेदार को रुक्का लिखा। थोड़ी देर में थानेदार साहब दस-बारह सिपाहियों सहित आ मौजूद हुए। मैंने जो देखा था, उनसे कह दिया। गांव से पासी बुलवाये गए। पहले उस स्थान पर जाकर ढूंढ़ा। फकीर के डेरे पर कुछ भेद मिला और एक सिपाही को एक शाही जमाने की अशर्फी मिली। वह थानेदार साहब के पास ले आया।

थानेदार : खुदा ने चाहा तो माल सहित पकड़ा जायगा।

थानेदार साहब ने बड़ाई अच्छा बन्दोबस्त किया। सिपाहियों ने खूब प्रयत्न किया। आखिर तीन बजे रात को मल्कागंज में पकड़ा गया। सुबह होते-होते तालाब पहुंच गया। तलाशी में चौबीस अशर्फियां निकलीं। मैं शिनाख्त के लिए बुलाई गई। मेरी शिनाख्त के अलावा दो सिपाहियों ने भी पहचाना। दस बजे चालान लखनऊ को रवाना हो गया।

रुसवा : अच्छा तो फिर उसका क्या हुआ? इस किस्से को जल्दी समाप्त कीजिए।

मैं : हुआ क्या, कोई दो महीने बाद मालूम हुआ कि फांसी हो गई। नरक पहुंचा।

२६

न पूछो नामा-ए-ऐमाल की दिल-आवेज़ी
तमाम उम्र का क़िस्सा लिखा हुआ पाया।

मिर्ज़ा रुसवा साहब! जब आपने मेरी जीवन-कथा का मसविदा मुझे दोबारा देखने को दिया था, तब मुझे ऐसा गुस्सा आया कि जी चाहता था इसके पुर्जे-पुर्जे करके फेंक दूं। बार-बार ख्याल आता कि जिन्दगी में क्या कम बदनाम हुई कि मेरा 'अफसाना बाद मरने के भी बाकी रहे,' कि लोग उसे पढ़ें और मुझे लानत-मलामत करें। मगर मन के संतोष और आपकी मेहनत के ख्याल से हाथ रोक लिया।

संयोग से कल रात लगभग बारह बजे सोते-सोते आंख खुल

की तरह कमरे मे अकेली थी। माइयां, नौकर-चाकर सब नीचे मकान मे सो रहे थे। मेरे सिरहाने लैम्प जल रहा था। पहले तो देर तक करवटें बदलती रही चाहती थी कि सो जाऊं। किसी तरह नीद न आई। आखिर उठी। पान लगाकर माई को पुकारा, हुक्का भरवाया, फिर पलंग पर जा लेटी, हुक्का पीने लगी। जी मे आया, कोई किताब देखू। बहुत-सी किस्से-कहानियों की किताबें सिरहाने अलमारी में रखी थी। एक-एक को उठा कर पन्ने पलटे, मगर सब कई बार की देखी-पढ़ी हुई थीं। जी न लगा, बंद करके रख दी। आखिर इसी मसविदे पर हाथ पड़ा। गुस्से ने ज़ोर मारा, सचमुच मैंने इसे फाड़ डालने का पक्का इरादा कर लिया। फाड़ना चाहती ही थी कि लगा जैसे कान में कोई कह रहा है, 'अच्छा उमराव, मान लो इसे तुमने फाड़कर फेंक दिया, जला दिया तो इससे क्या होता है? तमाम उम्र की बीती, जो सर्वशक्तिमान और न्यायप्रिय प्रभु के हुक्म से देव-दूतो ने विस्तारपूर्वक लिखी है, उसे कौन मिटा सकता है?"

इस गैबी आवाज से मेरे हाथ-पांव कापने लगे। करीब था कि मसविदा हाथ से गिर पड़े, मगर मैंने भरसक सभाला। चाक करने का ख्याल दिल से बिल्कुल मिट गया। जो चाहा, जहा से उठाया था, वही रख दूं। फिर सहसा यो ही पढ़ना शुरू किया। पहला पृष्ठ जब पढ चुकी, पन्ना उल्टा, दो-चार लाइनें और पढ़ी। तब मुझे अपनी कहानी से कुछ ऐसी रुचि हो गई कि जितना पढ़ती जाती थी, जी चाहता और पढ़ूं। और किस्सों के पढ़ने मे मुझे ऐसा मजा कभी न आया था। क्योंकि उन्हें पढ़ते समय यह ख्याल सामने रहता था कि यह सब बनावटी बातें हैं। कोई यथार्थ नही। यही ख्याल किस्से को बेमज़ा कर देता है। मेरी जीवन-गाथा मे जो बातें आपने लिखी हैं, वे सब मुझ पर गुज़री हैं। पढ़ते समय वे सब मानो मेरी आखो के सामने थी। हर घटना यथार्थ रूप में नजर आती थी। इससे तरह-तरह के प्रभाव मेरे दिल व दिमाग में अंकित थे जिनका वर्णन करना कठिन है। अगर कोई मुझे उस हालत में देखता तो मेरे पागल होने मे शक न करता। कभी तो मैं सहसा हंस पड़ती थी, कभी टप-टप आंसू गिरने लगते थे। गरज कि अजीब हालत थी। आपने फरमाया था कि 'जगह-जगह सुधारती जाना।' इसका होश किसे था? पढते-पढ़ते सुबह हो गई। अब मैंने वजू किया। नमाज़ पढ़ी। फिर थोड़ी देर सो रही। सुबह को कोई आठ बजे आंख खुली। हाथ-मुंह धोकर फिर पढ़ने लगी। आखिर शाम तक सारा मसविदा पढ़ चुकी।

सारे किस्से में आप का यह वर्णन मुझे बड़ा रोचक लगा जहां आपने सौभाग्यवती और बिगड़ी नारियों की तुलना करके उनका अन्तर बताया है। सौभाग्यवती गृहिणियों को अपने ऊपर जितना गर्व हो, शोभा देता है। और हम-जैसी बाजारियों को उनके गर्व से ईर्ष्या होनी चाहिए। मगर इसके साथ यह ख्याल आया कि इस बारे में भाग्य और संयोग का बहुत हाथ है। मेरी खराबी का कारण वही दिलावर खां की शरारत थी। न वह मुझे उठा लाता, न संयोग से खानम के हाथ बेची जाती, न मेरा यह लिखा पूरा होता। जिन बातो की बुराई में अब मुझे कोई संदेह नही रहा और इसीलिए एक अरसे से मैं उनसे दुःखी हूँ, उस समय उनकी वास्तविकता मुझे किसी तरह नही मालूम हो सकती थी। न ऐसा कोई कानून मुझे बताया गया था कि मैं उनसे दूर रहती, और न ऐसा करने पर मुझे सज़ा दी जाती। मैं खानम को ही अपना मालिक और हाकिम समझती थी। कोई काम ऐसा न करती जो उनकी मर्जी के खिलाफ हो और अगर करती भी तो बहुत छिपाकर ताकि उनकी मार-झिड़कियो से बच सकू। यद्यपि खानम ने मुझे जीवन-भर फूल की छडी भी न छुआई, मगर उनका भय छाया हुआ था।

जिन लोगो में मैं रही-पली, जो उनका ढंग था, वही मेरा भी था। मैंने उस ज़माने मे कभी किसी धार्मिक आचरण पर ध्यान नही दिया और मेरा ख्याल है कि कोई ऐसी हालत मे देता भी न।

दैविक घटनाएँ, जिनका कोई निश्चित समय नही होता है, जब घट जाती हैं तो दिलों में एक खास तरह का भय समा जाता है। जैसे बादल की घोर गर्जना, बिजली का चमकना, आंधियो का आना, ओले पड़ना या भूकम्प आना, सूर्य-ग्रहण या चन्द्र-ग्रहण, अकाल, महामारी आदि ऐसी घटनाएँ अक्सर दैवी प्रकोप की सूचक समझी जाती थी। फिर मैंने देखा कि लोगों के कुछ कर्मो से वे समाप्त हो गई। मगर यह भी देखा कि बहुत-सी आफतें दुआ, तावीज, टोटके-वोटके किसी बात से न टली। ऐसी घटनाओं को लोग परमात्मा की मर्जी या भाग्य से जोड़ देते हैं। धर्म की बातो का मुझे विशेष ज्ञान नही हुआ था और न पाप-पुण्य को अच्छी तरह समझा था, इसलिए इन बातों का प्रभाव मेरे दिल पर न था। बेशक उन दिनो मेरा कोई धर्म नही था, केवल और लोगो को जैसे करता देखती थी, वही आप भी करने लगती। भाग्य पर मेरा बड़ा भरोसा था। जो काम मैं सुस्ती से न कर सकती थी या मेरी मूर्खता से बिगड़ जाता था, उसे मैं भाग्य के हवाले कर

देती। फारसी की किताबें पढ़ने से अद् [illegible]
और जब कोई मेरा काम खराब हो [illegible]
था तो उचित-अनुचित ढंग से भाग्य को कोसा करता था।

हम तो हैं मुख्तार लेकिन इस कदर है अख्तियार
जब हुए मजबूर किस्मत को बुरा कहने लगे।

मौलवी साहब, बुआ हुसैनी और बुड्ढे-बुढ़ियां जब पिछले ज़माने की बातें करते थे तो उससे मालूम होता था कि वह इस जमाने से बहुत ही अच्छा था। इसलिए उनकी तरह मैं भी उस बीते युग की तारीफ और वर्तमान की अकारण निन्दा किया करती थी। मैं कमबख्त इस बात को न समझी कि बुड्ढे-बुढ़ियां जो पिछले दिनों की तारीफ करते हैं, उसका कारण यह है कि अपनी-अपनी जवानी के दिन सबको अच्छे मालूम होते हैं, इसलिए दुनियां भी भली लगती है। आप सुखी, जग सुखी। आप मरे, जग प्रलय। बूढ़े लोगों की देखा-देखी जवानों ने भी उन्हीं का ढंग अपना लिया और क्योंकि यह भ्रांति मुद्दत से चली आ रही है, इसलिए प्राय: सबको इसकी आदत हो गई है।

जवान होने के बाद मैं ऐश-आराम में पड़ गई थी। उन दिनों गा-बजाकर मर्दों को रिझाना मेरा खास पेशा था। इसमें साथ वालियों की तुलना में जितनी सफलता-असफलता मुझे मिलती थी, यही मेरी खुशी और दु:ख का माप था। मेरी सूरत अन्य औरों की तुलना में अच्छी न थी मगर गायन-कला में कुशलता और शेरो-शायरी की योग्यता के कारण मैं सबसे बढ़ी-चढ़ी रही। अपनी समवयस्काओं में मुझे एक खास तरह की बड़ाई प्राप्त थी। मगर इससे कुछ हानि भी हुई। वह यह कि जितनी मेरी इज्जत बढ़ती गई, उतना ही स्वाभिमान का भाव दिल में ज्यादा उत्पन्न होता गया। जहां और वेश्याएँ निर्लज्जता से अपना मतलब निकाल लेती थीं, वहां मैं मुंह देखती रह जाती थी। जैसे उनका यह आम कायदा था कि हर अच्छे-बुरे आदमी से किसी-न-किसी तरह की फरमाइशें जरूर कर देनी चाहिएँ। मुझे इसमें शर्म आती थी। यह ख्याल आता था कि कहीं इन्कार न कर दे तो दु:ख होगा और न ही हर किसी से मैं बहुत जल्द घुल ही जाती थी। मेरी साथिनों के पास जब कोई आकर बैठता तो उन्हें सबसे ज्यादा यही चिन्ता होती कि कहां तक दे सकता है और हम कहां तक इससे प्राप्त कर सकती हैं। मेरा अधिक समय उस व्यक्ति की निजी योग्यता, स्वभाव, चरित्र का

अनुमान लगाने में ही लग जाता था। मांगने की आदत को मैं घृणित समझने लगी थी। इसके अतिरिक्त और भी कई बातें मुझमें वेश्यापन की न थी। इसलिए मेरी सायिनों में से कोई मुझे नाक-चढ़ी, कोई पगली और दीवानी समझती थी। मगर मैंने अपनी की, किसी की न सुनी।

फिर वह समय आया कि मैं वेश्या के ज़लील पेशे को बुरा समझने लगी और इसे त्याग दिया। हर आदमी से मिलना छोड़ दिया। केवल नाच-मुजरे पर गुज़ारा करने लगी। किसी रईस ने नौकर रखा तो नौकरी कर ली। शनैः-शनैः यह भी छोड़ दिया।

जब मैं इन कुकर्मों से दूर हुई जिन्हें मैं बुरा समझ चुकी थी तो अक्सर मेरे जी में आया कि किसी आदमी के घर बैठ जाऊं। लेकिन फिर ख्याल हुआ कि लोग कहेंगे आखिर वेश्या थी न, कफन का ठिकाना किया!

मिर्ज़ा साहब, शायद इस मुहावरे को आप न समझें! मतलब इसका यह है कि कोई वेश्या उमर ढल जाने पर किसी के घर बैठ जाती है तो अनुभवी तमाशबीन उसके बारे में कहा करते हैं कि इस वेश्या ने कफन का ठिकाना किया या मरते-मरते कफन ले मरी, यानी अपना खर्चा बचा लिया और चालबाज़ी से अपने क्रिया-कर्म का बोझ वेश्यागामी पर डाला। इस कहावत से वेश्याओं की असीम स्वार्थपरता, लालच और चालबाज़ी का सबूत मिलता है। इसमें सन्देह नहीं कि हम लोग ऐसी ही होती हैं। मान लीजिए कि मैं सचमुच पेशे से हट गई और अब बेहद नेक हूं, मगर इसे सिवाय खुदा के कौन जानता है। किसी को मेरी नेकचलनी का विश्वास नहीं हो सकता। फिर अगर इस हालत में किसी से प्यार करूं और यह प्यार पूर्णतः सचाई और नेकनीयती पर आधारित हो, तो भी स्वयं वह आदमी और उसके अलावा और भी जो लोग देखें और सुनेंगे, कभी यकीन न करेंगे। फिर मेरा प्यार करना भी निरर्थक होगा। लोगों में प्रसिद्ध है कि मेरे पास दौलत बहुत है, इसलिए अक्सर लोग इस उमर में भी मुझे चाहते हैं और तरह-तरह का धोखा मुझे देना चाहते हैं। कोई मेरे रूप-सौन्दर्य की प्रशंसा करते हैं यद्यपि मैं सुन चुकी हूं, उनका सम्बन्ध ऐसी वेश्याओं से होता है जो मुझसे कहीं अच्छी हैं। कोई साहब मेरी गायन-कला पर मुग्ध हैं हालांकि उनके कान ताल-सम से परिचित नहीं। कोई मेरी शायरी के प्रशंसक हैं जिन्होंने उमर भर एक पंक्ति रचना तो क्या, कभी पढ़ी भी न होगी।

एक साहब मेरे ज्ञान के कायल हैं, स्वयं भी पढ़े-लिखे हैं, मगर मुझे मौलाना, आलिम-फाज़िल समझते हैं, रोज़ा-नमाज़ के मामूली मसले भी मुझसे ही पूछा करते हैं, मानो आप मेरे मुरीद या शिष्य हैं। एक मेरे ऐसे बड़े आशिक बने हैं कि मेरी दौलत से कोई वास्ता नहीं, केवल मेरा स्वास्थ्य चाहते हैं। हर बात पर अल्लाह आमीन। मुझे छींक आई और उन्हें सिर दर्द होने लगा, मुझे सिर दर्द हुआ और उनके दुश्मनों का दम निकलने लगा। एक बुजुर्ग उपदेशक बने हैं, दुनिया के ऊँच-नीच समझाया करते हैं, मुझे बहुत ही भोली समझते हैं! ऐसी बातें करते हैं जैसे कोई दस-ग्यारह बरस की लड़की से बातें करता हो!

मैं एक घाघ औरत हूँ—घाट-घाट का पानी पीए हुए! जो जैसे बनाता है, बनती हूँ और वास्तव में उन्हें ही बनाती हूँ। सच्चे दिल से मिलने वाले भी दो-एक साहब हैं जो निस्वार्थ भाव से मिलते हैं। उनका उद्देश्य केवल विशिष्ट रुचि है, जैसे शेरो-सुखन या गाना-बजाना या केवल बातचीत का आनन्द! न उन्हें मुझसे कोई गरज है, न मुझे उनसे है। ऐसे लोगों को मैं दिल से पसन्द करती हूँ। ऐसी बेगरज़ी शनैः-शनैः एक गरज भी हो जाती है कि न मुझे उनके बग़ैर चैन आता है, और न उन्हें मेरे बिना। मगर उनमें से कोई मुझे घर में बिठाने वाला नहीं होता। काश! कि ऐसा होता! पर यह कामना ऐसी है जैसे कोई कहे कि काश! जवानी फिर आती! इसमें संदेह नहीं कि औरत की असल ज़िन्दगी जवानी तक है। अगर जवानी के साथ ही ज़िन्दगी भी खत्म हो जाया करती तो कितना ही अच्छा होता! मगर ऐसा होता नहीं। यूँ तो बुढ़ापा सबके लिए बुरा है, खासकर औरत के लिए, और वेश्या के लिए तो विशेषकर नरक का नमूना है। बुढ़िया फकीरनिया जो लखनऊ के गली-कूचों में पड़ी फिरती हैं, अगर ध्यान दें तो उनमें अक्सर वेश्याएं हैं! कौन-सी? जो कभी ज़मीन पर पांव न रखती थीं। जिन्होंने अपनी जवानी में कयामत ढा रखी थी, हज़ारों भरे-पूरे घर तबाह कर दिये, सैकड़ों जवानों को निरपराध मरवा डाला। जहां जाती थीं, लोग आंखें बिछाते थे। अब कोई आंख उठाकर भी नहीं देखता। पहले जहां बैठ जाती थीं, लोग बाग-बाग हो जाते थे, अब कोई पास खड़ा होने का रवादार नहीं। पहले बिन मांगे मोती मिलते थे, अब मांगे भीख नहीं मिलती!

इनमें से अक्सर अपने हाथों अपनी तबाही का कारण बनीं। एक बड़ी बी मकान पर कभी-कभी आया करती थीं। किसी ज़माने में बड़ी प्रसिद्ध

वेश्याओं में थी। जवानी में हजारों रुपये कमाये। जरा अच्छा जीवडा था। जब उमर से ढल गई, वही कमाई यारों को खिलानी शुरू की। बुढापे में एक नौजवान के घर बैठी। एक तो वह खूबसूरत, साथ ही कमसिन, भला इनपर क्यों रीझता? पहले तो उनकी बीवी जरा बिगड़ी मगर जब मियां ने असल मतलब समझाया, चुप हो रही। इनकी खातिरें होने लगी। जब तक माल रहा, खूब मियां-बीवी ने फुसलाकर खाया। आखिर जब खुतास हो गई, तब कौन पूछता! निकाल बाहर किया! गलियों की ठोकरें खाती फिरती हैं।

कुछ मूर्ख वेश्यायें ऐसी होती हैं कि किसी लडकी को लेकर पाला, उससे दिल लगाया, (इस मूर्खता का मैं भी शिकार हो चुकी हूँ) मगर जब वह जवान हुई, ले-देकर किसी के साथ निकल भागी या अगर रही तो कुल माल शनैः शनैः अपने कब्जे में किया, इनको घर की देखभाल, काम-काज के लिए माई बना कर रखा।

आबादी ने भी मुझे धोखा दिया होता, मगर वह तो कहो, उसकी करतूत पहले ही खुल गई, नहीं तो मुझे लूट ले जाती। मरद क्या और औरत क्या, वेश्या के साथ बदकारों की जिन्दगी का ढंग ही ऐसा बिगडा हुआ है कि एक-दूसरे में प्यार हो ही नहीं सकता। न कोई समझदार मरद ही इन्हें अपना दिल दे सकता है, क्योंकि सब जानते हैं, वेश्या किसी की नहीं होती। और न औरत ही सच्चा प्यार कर सकती है। नोचियां अपने दिल में यह सोचती हैं कि पेशा हम करती हैं, फिर इन्हें क्यों दें! पहले के कदरदान मरद सौन्दर्य ढल जाने पर किनारा करते हैं! इन्हें झूठी खुशामद कराने की आदत हो जाती है, भला अब कोई खुशामद क्यों करने लगा! गरज कि मरद इनसे किनाराकश और ये मरदों से आशंकित रहती हैं।

पहले-पहल मैं भी वेश्याओं के मुंह से मरदों की बेवफाई का दुखडा सुनने में समय खराब किया करती थी और नासमझी में उनकी हां में हां मिलाती थी, मगर बावजूद इसके कि गौहर मिर्जा ने मेरे साथ जो कुछ किया, वह आपको मालूम है, और नवाब साहब, जिन्होंने मुझ पर निकाह का इल्जाम लगाया था (इसे भी आप सुन चुके), फिर भी मरदों को बेवफा नहीं कह सकती। इस बारे में औरतें खासकर बाजारी औरतें मरदों से किसी तरह कम नहीं। प्यार के मामले में मरद(माफ कीजिए)अक्सर मूर्ख और औरतें बहुत ही चालाक होती हैं। ज्यादा मरद सच्चे दिल से प्यार जताते हैं और ज्यादा औरतें झूठी मुहब्बत प्रकट करती

हैं। इसलिए कि मरद जिस हालत में प्रेम प्रकट करते हैं, वह हालत उनकी बे-करारी की होती है और औरतें इतनी जल्दी प्रभावित नहीं होतीं। क्योंकि मरद बहुत जल्दी औरतों के बाह्य सौन्दर्य पर आसक्त होकर उनका दीवाना हो जाता है और औरतें इस बारे में ज्यादा सावधानी बरतती हैं, इसीलिए मरदों का प्रेम कुछ जल्दी खत्म हो जाने वाला और औरतों का देरपा होता है। मगर दोनों के परस्पर व्यवहार से इन बातों में एक खास सामंजस्य पैदा हो सकता है, बशर्ते दोनों या कम-से-कम एक को समझ हो।

वाकई इस मामले में मरद जल्दी विश्वास जमा लेते हैं और औरतें हद दर्जे की शक्की होती हैं। मरद पर औरत का जादू बहुत जल्द चल जाता है मगर औरत पर मर्द का जादू मुश्किल से सफल होता है। मैं समझती हूं, यह अन्तर कुदरती है—इसलिए कि नारी अबला है, उसे कुदरत ने कुछ गुण ऐसे दिए हैं जिससे यह कमी पूरी हो जाय। उन तमाम गुणों में एक गुण यह भी है, बल्कि मैं कह सकती हूं, शायद यही एक गुण है। इसका उदाहरण जानवरों में भी मिल सकता है, अक्सर दुर्बल जानवरों में भी यह टालमटोल की प्रवृत्ति पाई जाती है।

बहुत-से लोग यह कहेंगे कि नारी सुन्दर होती है। मैं यह नहीं मानती। दर-असल न मर्द ही अपने में सुन्दर है, न औरत। बल्कि हरेक को ऐसा सौन्दर्य मिला है, जो दूसरे को अच्छा लगे। यों तो नर-नारी, जिसके नैन-नक्श अच्छे हों, उन्हें सभी पसन्द करते हैं मगर असल कदरदान मर्द के सौन्दर्य की औरत और औरत के सौन्दर्य का मर्द है। एक सुन्दर नारी दूसरी सुन्दर नारी के सामने उस सुरंग फूल से ज्यादा नहीं है जिसमें सुगंधि न हो। और एक बदसूरत मर्द भी सुन्दर औरत की राय में एक सुन्दर फूल की तरह आकर्षक है चाहे उसके रंग-रूप में कोई विशेषता न हो। प्रेम के बारे में गल्ती केवल एक से ही नहीं होती, बल्कि दोनों इस बारीकी को नहीं समझते। दोनों के प्रेम की यथार्थता में अन्तर है। जिस दृष्टि से मर्द औरतों को देखते हैं, उस नज़र से औरत मर्द को देखती ही नहीं। औरतों के प्रेम करने का अन्दाज़ा उन मरदों में एक हद तक पाया जाता है जो किसी धनी औरत के धन का आंचल पकड़े हैं या जिनकी आयु बहुत कम है, मगर बड़ी आयु की कोई औरत उनको क्यों चाहने लगी!

इसमें संदेह नहीं कि औरतें बूढ़ों की अपेक्षा युवकों से ज्यादा प्यार करती हैं—इसका कारण भी केवल रूप-रंग नहीं है, बल्कि कारण यह है कि नारी

अबला है। इसलिए वह हर हालत में अपने हिमायती को अपना बड़ा दोस्त बनाती है ताकि जरूरत के वक्त वह उसको खतरे से बचा सके। अतः जवान से इस बात की बूढ़े की अपेक्षा ज्यादा उम्मीद है और रूप-रंग इस खूबी के साथ मिलकर उसके गुण को बढ़ा देता है।

सारांश यह कि मर्द की मुहब्बत में केवल आनंद पाना उद्देश्य है और औरत के प्यार में संकट में सुरक्षित रहना तथा आनन्द दोनों स्वार्थ शामिल हैं। चूंकि यह बात लोकप्रिय है कि प्रेम निःस्वार्थ होना चाहिये और औरत के प्रेम में इसका लगाव ज्यादा है, अतः वह उसके छिपाने की कोशिश करती है। सम्भव है कोई यह कहे कि जो बातें मैंने इस सम्बन्ध में कही हैं, अक्सर बातों का ध्यान न मर्दों को होता है न औरतों को, तो मैं इसे मान लूंगी और यह कहूंगी कि यह बातें प्राकृतिक रूप से नर-नारी के स्वभाव में दाखिल हैं। कुछ जरूरी नहीं कि उन्हें इसका ज्ञान भी हो। मैंने उम्रभर के अनुभव से यह बातें जानी हैं और मेरे साथ जो भी इस पर ग़ौर करेगा, वह इसे समझ सकता है।

मैं देखती हूं कि अक्सर औरतें और अनपढ़ मर्द भी ऐसी बातों पर ध्यान नहीं देते। इसी से उन्हें अपने जीवनकाल में बहुत-सी बक-बक, झक-झक करनी पड़ती है। मेरे ख्याल में मर्द और औरत दोनों अपने-अपने स्वार्थ और स्थिति को समझ लें तो उन्हें हरगिज़ दुख न हो, बहुत-सी आफतें टल जायें और दूर हो जायें मगर एक मुश्किल है कि जब किसी को किसी बात से सावधान किया जाय तो अक्सर यही जवाब मिलता है, "ओह जी ! जो भाग्य में होगा, होकर रहेगा।" इसका मतलब यह है कि हम जो चाहें करें, हमें न रोको। हमारे किये कुछ नहीं होता यानी हमारी बदकारियों का कोई परिणाम नहीं, जो कुछ होगा, भाग्य से होगा। जो परिणाम निकलेगा, वह विधाता की ओर से होगा। यह झूठा ख्याल अतीत युग में कुछ सार्थक था भी क्योंकि उस समय संयोगवश घड़ी भर में कुछ-का-कुछ हो जाया करता था। इस पर मुझे शाही जमाने का एक उदाहरण याद आया है: शाही जमाने में परिवर्तन का सबूत अक्सर मिलता रहता था। लोगों की हालत में अचानक परिवर्तन हो जाता था। एक दिन की बात है, एक सिपाही अत्यन्त बुरी हालत में मोती महल के फाटक के पास चबूतरे पर पड़ा सो रहा था। भाग्य का खेल ! सुबह की नमाज़ के बाद टहलते हुए बादशाह उधर आ निकले ! संयोग से उस समय कोई उनके साथ न था। न मालूम क्या जी में

आया, आपने उसे जगा दिया। वह सिपाही नींद से आखें मलता हुआ उठा। जहांपनाह पर नजर पड़ी ! पहले तो घबरा गया फिर एकदम सँभलकर अपनी हालत देखी। तुरंत तलवार भेंट की। बादशाह ने भेंट स्वीकार कर ली। जंग लगी तलवार थी, म्यान से बड़ी मुश्किल से निकली ! फिर देखभाल कर उस तलवार की तारीफ़ की और म्यान में रखकर अपनी कमर में लगा ली। स्वयं जो विलायती तलवार बांधे हुए थे, जिसका कब्जा सोने का था, बेल-बूटे वाले कमर-बंद सहित उसके हवाले की। इसी अवसर पर हजूर आलम (वजीर अवध) आ गए। जहांपनाह ने इस जवान और इसकी तलवार की तारीफ की।

बादशाह : देखना भई, क्या सजीला जवान है ! और तलवार भी उसके पास क्या ही बढ़िया थी ! (कमर से तलवार निकाल कर) यह देखो !

वज़ीर : किबला-आलम सुभान-अल्ला ! मगर हजूर-सा जोहर-पारखी और कदरदान भी तो हो ! तभी ऐसे लोग और ऐसी चीजें मिलती हैं।

बादशाह : मगर देखना भई, मेरी तलवार भी कुछ ऐसी बुरी नहीं है।

वज़ीर : जिल्ल-सुभानी की तलवार और बुरी !

बादशाह : मगर इस सिपाही के कपड़े इसके योग्य नहीं हैं।

इसी बीच बादशाह के मुसाहब, नौकर-चाकर, शाही चोबदार, खासदार आ गए। अच्छी खासी भीड़ हो गई।

वज़ीर : ठीक इरशाद हुआ !

बादशाह : अच्छा, हमारे कपड़े तो इसे पहनाकर देखेजायें !

इस संकेत को पाते ही लोग दौड़े। कपड़ों की किश्तियां हाथों-हाथ आ गईं। बादशाह ने अपनी पोशाक जो उस समय पहने हुए थे, मात-ठाल, जोहै, नौरत्न, जड़ाऊ समेत उसे दे दी, स्वयं और कपड़े पहन लिये। जब वह कपड़े पहन चुका तो बोले, "हाँ, अब देखो !"

वज़ीर : 'वाकई सूरत ही और हो गई !' मुसाहब तथा उपस्थित लोग भी तारीफ करने लगे। बादशाह थोड़ी देर यहां ठहरे। अब सवारी आ गई थी, सवार होकर हवा खाने चले गए। सिपाही खुशी-खुशी घर आया। जौहरी, महाजन, दलाल आगे साथ ही लगे हुए थे। माल आंका गया। कुल पचास-साठ हजार रुपये का था !

सिपाही का हाल सुनिये : कहाँ नजीबों की पलटन में तीन रुपये का नौकर

की सोहबत के लायक थे। तुरन्त उमराहों में नाम हो गया। बेहद तनख्वाह हुई। जरूरी खर्चे के लिए कुछ पेशगी भी मिल गया। नौकर-चाकर, सवारी सब सरकार से प्राप्त हो गये। लीजिए फिर क्या था! पहले से ज्यादा ठाठ हो गए! अब जो चौक में निकले तो जलूस ही और था! हाथी पर सवार हैं, पचास खास-बरदार आगे दौड़े चले जाते हैं। बिस्मिल्ला ने और मैंने अपनी आंखों से देखा। पहले तो यकीन न आया। कहीं मियां मखदूम बख्श भी पीछे चले आते थे। उनको इशारे से बुलाया, पूरा हाल जाना।

इसके बाद चचा ने भी मेल कर लिया। शादी भी हो गई। शादी में हम लोग भी बुलाए गए थे। खानम को बहुत बढ़िया दोशाला व रूमाल दिया। मगर उस दिन से न कभी हमारे मकान पर आये न बिस्मिल्ला से सम्बन्ध रखा। खानम ने और ही चाल चली थी, बन न पड़ी, उल्टी हो गई।

सार यह कि शाही जमाने में ऐसे करिश्मे नजर आ जाते थे। भला अंग्रेजी हकूमत में यह सब कहां! वह दिन गए, खलील खां फाख्ता उड़ा गए! सुनते आए हैं कि दौलत अंधी होती है, मगर अब ऐसा लगता है कि किसी हिकमत से उसकी आंखें खोल दी गई हैं। अब उसे योग्य-अयोग्य का ख्याल हो गया है। शाही हकूमत में जाहिल, अनपढ़ जो अलिफ के नाम लठ नहीं जानते थे, बड़े-बड़े पदों पर नौकर थे। मैं कहती हूँ, उनसे काम कैसे चलता होगा! और तो और मुए ख्वाजा-सराओं के पास पलटनें और रसाले थे। भला न्याय कीजिए, हंसने की बात है या नहीं?

तकदीर और तदबीर के बारे में बहुत दिन चक्कर में रही। आखिर मालूम हुआ कि जिन अर्थों में लोग इन शब्दों का प्रयोग करते हैं, वह बिल्कुल धोखा है। अगर इससे तात्पर्य यह है कि खुदा को हमारी सब बातों का पता रहता है, तो इसमें कोई शक नहीं। वह काफिर है जिसे इस पर यकीन नहीं। मगर लोग तो अपने कुकर्मों के दुष्परिणाम को तकदीर की बात कह दिया करते हैं। इससे खुदा के गुणों पर दोष लगता है। यह बिल्कुल कुफ्र है।

अफसोस! जिन बातों को मैं अब समझी, अगर पहले ही समझ गई होती तो बहुत होता। मगर न कोई समझाने वाला था न खुद इतना अनुभव था कि आप ही समझ लेती। मौलवी साहब ने जो दो अक्षर पढ़ा दिये थे, वे मेरे बहुत काम 'खुदा उनकी ऊँची पदवी करे)। उस समय मुझे इसकी कदर न थी।

शारीरिक सुख-सुविधा और आरामतलवी के सिवा कोई काम न था। इसके साथ ही कदरदान इतने थे कि किसी समय फुर्सत ही न मिलती थी। जब वे दिन आए कि क़दरदान एक-एक करके खिसकने लगे तो जरा अवकाश मिला। उस समय पुस्तकें पढ़ने का शौक बढा क्योंकि सिवा इसके अब कोई मनोरंजन का साधन न रहा था।

मैं सच कहती हूं कि अगर यह शौक न होता तो अब तक मैं जिन्दा न रहती। जवानी चले जाने के मातम और पहले कदरदानों के अभाव के गम में कब की खत्म हो गई होती। कुछ दिन तो मैं किस्से-कहानी की किताबों से दिल बहलाती रही। एक दिन पुरानी किताबें धूप लगाने को निकाली। उनमे वह गुलिस्तां भी निकली जो मौलवी साहब से पढ़ी थी। इधर-उधर से पन्ने उलट-पलट कर पढ़ने लगी। पहले तो मुझे उसके पढ़ने से घृणा-सी हो गई थी। एक तो इसलिए कि शिक्षा आरंभिक ही हुई थी, पाठ कठिन मालूम होता था। दूसरे अनुभव न था। इसलिए कुछ समझ में नहीं आता था! अब जो पढ़ा तो वे कठिनाइयां दूर हो चुकी थीं। खूब जी लगाकर मैंने अथ से इति तक कई बार पढ़ा। एक-एक शब्द दिल में उतरा जाता था। इसके बाद एक साहब से 'अखलाक नासरी' की प्रशंसा सुनकर उसे पढ़ने का शौक हुआ। उन्हीं से एक हस्तलिपि मंगाकर पढ़ी। वाकई इस पुस्तक के अर्थ कठिन हैं और अरबी शब्द ज्यादा हैं, इसीलिए उसके समझने में बहुत कठिनाई हुई। मगर थोड़ा-थोड़ा पढ़कर बहुत दिनों में किताब खत्म की। फिर दानिशनामा गयास मंसूर नवलकिशोर प्रेस में छपा—उसे पढ़ा। फिर एक बार 'सगरा व कबरा' का स्वयं अध्ययन किया। जो-जो समझ न आया, उसे पूछ लिया। इन किताबों के पढ़ने से मुझे ऐसा मालूम हुआ जैसे दुनिया के भेद मुझपर खुलते जाते हैं। हर बात की समझ आ गई। इसके बाद मैंने इस तरह की बहुत-सी उर्दू-फारसी की किताबें अपने-आप पढीं। इससे तबियत उजली होती गई। क़सायद अनवरी व खाक़ानी एक-एक करके पढ़े। मगर झूठी खुशामद की बातों में अब मेरा दिल न लगता था। इसलिए उन्हें बंद करके अलमारी में रख दिया। आजकल कई अखबार भी मेरे पास आते हैं, उन्हें देखा करती हूं। उनसे दुनिया का हाल मालूम होता रहता है। मितव्ययता की वजह से अब भी मेरे पास इतनी जमा-पूंजी है कि अपना जीवन काट जाऊंगी। वहां का अल्ला मालिक है। मैं बहुत दिनों से सच्चे दिल से तोबा कर चुकी हूं और भरसक रोजा-नमाज की

पाबंद हूं। रहती वेश्या की तरह हूं, खुदा चाहे मारे, चाहे जिलाये। मुझसे पर्दे में तो घुटकर न बैठा जायगा। मगर पर्देवालियों के लिए दिल से प्रार्थना करती हूं, खुदा उनका सुहाग बनाये रखे और सदा उनका पर्दा रहे।

यहां मैं अपनी हमपेशा औरतों को सम्बोधित करके एक उपदेश देती हूं, वे अपने दिल पर अंकित कर लें: ऐ मूर्ख वेश्या, कभी इस भुलावे में न आना कि कोई तुझे सच्चे दिल से चाहेगा। तेरा आशना, जो तुझपर जान देता है, चार दिन बाद चलता नजर आयगा। वह तुझ से हरगिज निबाह नहीं कर सकता और न वह इस लायक है। सच्ची चाहत का मजा उसी सौभाग्यवती को है जो एक का मुंह देखकर दूसरे का मुंह कभी नहीं देखती। तुझ जैसी बाजारी को खुदा यह नेमत नहीं दे सकता।

खैर, मेरी तो जैसी गुजरनी थी, गुजर गई। मैं अपनी जिन्दगी के दिन पूरे कर रही हूं। जितने दिन दुनिया की हवा खानी है, खाती हूं। मैंने अपने दिल को हर तरह समझा लिया है और मेरी कुल इच्छाएं पूरी हो चुकी। अब किसी बात की इच्छा नहीं रही, हालांकि यह कमबख्त इच्छा वह बला है कि मरते दम तक दिल से नहीं निकलती। मुझे उम्मीद है कि मेरी जीवनी से कुछ-न-कुछ लाभ जरूर होगा। अब मैं अपना भाषण इस शेर पर खत्म करती हूं और सबसे दुआ की आशा रखती हूं:

मरने के दिन क़रीब हैं शायद के ऐ हयात,
तुझ से तबीयत अपनी बहुत सेर हो गई!